ATISHAY KALIT

A Referred International Bilingual Research Journal of
Humanities, Social Science & Fine-Arts

LOTUS (July-December) Vol. 5, Pt. B Sr. 10 Year 2016
ISSN 2277-419X
RNI-RAJBIL01578/2011-TC

Chief Editor :
Dr. Rita Pratap (M.A. Ph.D.)

Co-Editor :
Dr. Shashi Goel (M.A. Ph.D.)

Mailing Address :
Dr. Rita Pratap
ATISHAY KALIT
C-24, Hari Marg, Malviya Nagar, Jaipur-302017
Phone - 0141-2521549 Mobile : 9314631852
INDIA

Editor Writes

Dear Friends,

I am glad to inform you that this Journal Atishay Kalit, Lotus issue (June-Dec 2016) has completed its 5th year. Thanks to all my contributors (Research Scholars) for their co-operation. Wishing you all a Very Happy New Year 2017.

With Best Wishes

Dr. Rita Pratap
(Editor)

This issue is dedicated to my husband Late Shri Anand Pratap Goel
who left for his heavenly abode on 23rd October 2016
It was his inspiration and support that this journal has reached its heights.
May his soul rest in peace

CONTENTS

1.	Editor Writes	*Dr. Rita Pratap*	2
2.	हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्य में संगीतिक तत्त्व	भावना शर्मा	5
3.	लोकसंगीत तथा उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकसंगीत के कुछ विशेष प्रकारों का संक्षिप्त विवरण	शिल्पा मिश्रा	12
4.	भारतीय जीवन–दर्शन का स्वरूप	डॉ. मंजु सक्सेना मुकेश बगडिया	20
5.	जगमोहन माथोड़िया के भावपूर्ण रेखाचित्र	प्रो. किरन सरना प्रिया बापलावत	23
6.	राजस्थान की जनजातियों में राजनैतिक चेतना	बनवारी लाल यादव	29
7.	वेदों में योग–निरूपण	डॉ. रामदत्त पाराशर	39
8.	लालचन्द मारोठिया के रेखांकनों में सौन्दर्य बोध	प्रो. किरन सरना पारूल बापलावत	41
9.	हाड़ौती भित्ति चित्रण में ''मृग'' अंकन	डॉ अचला वर्मा	47
10.	अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की वैयक्तिक प्रभावशीलता का अध्ययन	डॉ. सरोजिनी उपाध्याय खुशबू जैन	54
11.	दलित एवं दलित साहित्य लेखन	कृष्णा खीची	60
12.	धर्मसूत्रों में राजा के उत्तरदायित्वों का परिशीलन	डॉ. कविता	67

13.	तूँगा के प्राचीन स्मारक एवं वर्तमान स्थिति	श्रीमती मीनाक्षी शर्मा	71
14.	''लोक एवं जनजातीय कलाओं से आवृत भारतीय संस्कृति''	डॉ0 शताक्षी चौधरी	76
15.	वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था : मौलाना आज़ाद के विचारों का प्रतिबिम्ब	बनवारी लाल मीना	81
16.	आभूषण कला एवं महत्त्व	प्रवीण कुमार	89
17.	अविद्या और माया : शंकराचार्य के सन्दर्भ में	डॉ. प्रीति सिंह	95
18.	Nudity: Through the eyes of Indian painters	*Mohan Jangid*	99
19.	International organization in the context of good governance	*Dr. Shashi Goel*	105
20.	"The Historical Values of Islamic Calligraphy in Modern Era-In-An Artistic Approach"	*Abdul Salam Khan*	117
21.	Meditation and Yogic Art in Indian TraditioN	*Dr. Rita Pratap*	122

Hkkouk 'kek
पीएच॰डी॰ शोधार्थी
संगीत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्य में संगीतिक तत्त्व

मनुष्य का स्वभाव है कि वह आनंद और वेदना, दोनों को बांटना चाहता है, क्योंकि आनंद बांटने से बढ़ता है और वेदना बांटने से घटती है। नाट्य की उत्पत्ति के विषय में सबसे प्राचीन मत 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में उपलब्ध है, जिसका नाम ही 'नाट्योत्पत्ति' है। शास्त्रीय मतानुसार ब्रह्मा जी ने देवताओं तथा अन्य सभी वर्गों के लिए एक ऐसे खेल की रचना की जो श्रव्य के साथ–साथ दृश्य भी था। इस खेल में ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से मुख्य तत्वों को लिया जिसमें ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस आदि तत्व थे। देवता 'नाट्य वेद' के ग्रहण, धारण, ज्ञान एवं प्रयोग में असमर्थ थे इसलिए ब्रह्मा जी द्वारा 'नाट्यवेद' की शिक्षा भरत मुनि को दी गई। भरत मुनि ने 'नाट्यवेद' की शिक्षा लेकर अपने पुत्रों तथा शिष्यों को भी शिक्षित किया। ब्रह्मा जी ने स्वाति तथा अनेक शिष्यों को वाद्य तथा नारद और गांधर्वों को गान योग में नियोजित किया। इसके पश्चात शिव ने इसके पूर्वरंग में नृत्य का समावेश करने के लिए कहा। इस प्रकार नाट्य में गीत–वाद्य तथा नृत्य का समावेश हुआ नाट्य वह कला है जिसमें गायन, वादन तथा नृत्य का आज भी स्वतंत्र रूप से प्रयोग होता है। प्राचीन समय से ही नाट्य में संगीत के समावेश के विधान प्राप्त होते हैं। संगीत के बिना नाट्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संगीत नाट्य का अभिन्न अंग है। संगीत एक ऐसी भाषा है जिसके द्वारा मनुष्य के हृदयगत भावों को व्यक्त किया जा सकता है। संगीत के मूल में 'नादात्मिक वाक्' है। नाट्य में संगीत द्वारा नाट्य कथा का विस्तार होता है और नाट्य के विभिन्न रसों की सृष्टि होती है। विभिन्न रसों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न स्वरों के समुदायों, तथा राग रागिनियों द्वारा विभिन्न रसों को अभिनय भावों के अनुरूप गाने से रस की सृष्टि होती है। अतः संगीत को नाट्य का सजीवात्मक तत्व है जिसके बिना नाट्य निर्जीव है।

भारत में लोक नाट्यों की बहुत प्रचीन परम्परा है, भिन्न–भिन्न प्रदेशों में विभिन्न ढंग से लोकनाट्य खेले जाते हैं। नाट्य एक ऐसी विधा है जिसका आविष्कार

सर्वहारा व्यक्ति के लिए किया गया था। ब्रह्मा जी ने देवताओं के कहने पर सभी वर्णो के लिए एक ऐसे खेल की रचना की जो श्रव्य के साथ दृश्य भी था। यह एक ऐसा खेला था जिसमें सभी कलाओं का सम्मिश्रण था। नाट्य की सिधि में संगीत सबसे बड़ा सहायक है। संगीत द्वारा ही नाट्य में अभिनीत भावों तथा नाट्य कथा का विस्तार होता है एवं नाट्य से रस की सृष्टि होती है। नाट्य में संगीत के गायन, वादन तथा नृत्य तीनों तत्वों का समावेश रहता है। यदि नाट्य में संगीत न हो तो नाट्य कला निर्जीव प्रतीत होगा। संगीत में एक ऐसा 'नादात्मिक को वाक' का गुण है जिसके द्वारा विभिन्न भावों जैसे हर्ष, शोक, भय, प्रेम, आदि विभिन्न भावों को सहज ही पहचान लिया जाता है। इसलिए संगीत को सार्वदेशिक भाषा कहा जाता है। अतः संगीत को नाट्य का अभिन्न अंग माना गया है।

लोक–संगीत भी मनुष्य की भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप में जन–मानस में विराजता गया और सतत संचरण व प्रयोग से निर्दिष्ट तथा सुव्यवस्थित स्वर–धारा के रूप में प्रस्पुफटित हुआ। लोक–गीतों के स्वर–चयन में शास्त्रोक्त राग–निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास–मात्र रहता है। लोक–गीतों के परीक्षण से यह भली–भाँति ज्ञात होता है कि उनकी स्वर–रचनाओं में स्वर–चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है तथा उनका बीजरूप निश्चय ही शास्त्रीय रागों में निहित है। यह लोक गीत लोक वाद्यों के साथ धीरे–धीरे लोक नाट्यों में भी समाहित होते गए।

''डॉ. श्रीराम षर्मा के विचारानुसार '' लोक वार्ता के विषय क्षेत्र के अंतर्गत आने वाला तथा लोक मानस का संगीत, नृत्यात्मक संवादयुक्त, अभियन के मनोरंजन के प्रधान उद्देश्य को लेकर रचा गया है।''[1]

''लोक नाट्य मुख्यतः संवाद, गीत, नृत्य, वाद्य तथा अभिनय के साथ खेला जाता है वार्तालाप, रोना, हंसना, आदि समस्त क्रिया–कलाप गेयपदों द्वारा ही प्रदर्शित किए जाते हैं।''[2]

हिमाचल प्रदेश में लोक नाट्यों की एक स्वतन्त्र परम्परा है जिसमें लोक–रंग की वेशभूषा रसीले कथोपकथन, लकड़ी, कागज, मिट्टी व पीतल के मुखौटों का प्रयोग होता है। इसमें जटाओं के लिए शेल, (एक विशेष पेड के बूटे का बाहरी रेशा) मूछों के लिए मक्की की मिंजर और चेहरों को चमकाने के लिए आटे का इस्तेमाल होता है।यहां के लोक नाट्यों का विषय अधिकतर लौकिक होता है। लोक धर्मी नाट्य कला आज भी ग्रामीण समुदायों के मनोरंजन का प्रमुख साधन है। हिमाचल प्रदेश में प्राचीन एवं नवीन लोक नाट्यों का भण्डार है। इनमें कोई लिखित आलेख न होकर 'करत विद्या 'की बात निकलती है, लेकिन कुछ स्वाँगों के संवाद रूढ़ भी

हो गए हैं। इस तरह संवादों में कुछ परम्परा से चला आता है और बहुत कुछ हाज़िर–जवाबी में नया जुड़ता जाता है।

''हिमाचली लोक रंगशाला की विविधता में देव दानव संघर्ष, षिव षक्ति, राम कृष्ण लीला, सामाजिक विसंगतियों तथा ऐतिहासिक परिवेश को ही मूल प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार करते हैं।''[3]

''हिमाचल प्रदेश देवी देवताओं की पुनीत भूमि रहा है। हिमानी अंतुग शिखरों पर आसमान से बाते करते अमिट–आस्था के प्रतीक मंदिर, हरित चोटियों में गूंजती हुई लोक गीतों की मनोहारी धुनें तथा गांव के चौपाल में एकत्र जन समूह के मनोरंजन के लिए किए जाने वाले हिमाचली लोक नाट्य ने हिम लोक संस्कृति की प्राचीन परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है। वास्तव में हिमाचल जन जीवन नृत्य–नाट्यमय है। हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्य के उद्भव और विकास के पीछे प्रकृति पूजा और देवी आस्थाएं महत्वूपर्ण भूमिका निभाती है।''[4]

जनजातीय क्षेत्रों से लेकर शिवालिक की पहाड़ियों तक बसे हिमाचल में कई भौगोलिक स्तर हैं। इस स्थिति में लोकनाट्य प्रदेश की विविध सांस्कृतिक झाकियाँ प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोकनाट्य उस आदिम संस्कृति के हैं, जब यहाँ के जीवन में वन्य तथा पालतू पशुओं की अहम भूमिका रहती थी। दूसरी ओर ऐसे लोकनाट्य हैं ,जो विभिन्न धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक परम्पराओं पर आधारित हैं। समसामयिक समस्याओं और बुराइयों पर तीखे व्यंग्य करनेवाले लोकनाट्य भी यहाँ खेले जाते हैं। ये सभी नाट्य लोगों के मनोरंजन के पारंपरिक साधन हैं। अतीत में सामाजिक शिक्षा और सूचना के प्रभावी साधन भी ये लोकनाट्य रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश में जिस तरह बोलीगत विविधता है, उसी तरह यहाँ लोकनाट्य के भी अनेक रूप प्रचलन में हैं। शिमला, सोलन व सिरमौर में करियाला, ठोडा और बरलाज, कुल्लू में हरण, चम्बा में हरणात्र, मंडी में बांठड़ा, कांगड़ा में भगत, ऊना में बोरा, बिलासपुर में धाजा और किन्नौर में होरिड्–फो, तथा लाहुल के छोदपा और योर तथा स्पीति का बुच्छेन प्रसिद्ध लोकनाट्य हैं। इनमें से अधिकाशं लोकनाट्यों में गीत–संगीत से माहौल बनता है और नृत्य व अभिनय का अद्भुत संयोग देखा जा सकता है। वादन में ज़्यादातर पारम्परिक लोकवाद्यों का ही इस्तेमाल होता है। हिमाचल प्रदेश के विभिन्न जनपदों में विभिन्न लोक वाद्य प्रचलित है। यहां के लोक नाट्यों में संगीत मुख्यतः वाद्य प्रधान रहता है। यहां के लोक नाट्यों में अपने–अपने क्षेत्रों के प्रमुख वाद्यों का वादन ही नाट्यों में किया जाता है। जनजातीय क्षेत्रों के वाद्य अन्य क्षेत्रों से भिन्न होते हैं। जिनका परम्परागत रूप से वहां के लोक नाट्यों में प्रयोग किया जाता है। ढोल, नगारा, शहनाई, खंजरी, चिमटा और बाजा लेकर बजंतरी एक किनारे बैठकर लोकनाट्य संगीत बजाते है। संगीत के बिना नाट्य

आगे नहीं बढ सकता। इसलिए यहां के लोकनाट्य संगीतमय है। इन लोकनाट्यों का अपनी ज़मीन से गहरा जुड़ाव है। अधिकाशं लोकनाट्य हास्य–व्यंग्य प्रध ाान होते हैं। हास्य रस का स्थायी भाव 'हास' है।

हिमाचल प्रदेश को देव भूमि कहा जाता है क्योंकि यहां के लोक का जीवन देवी देवताओं के विभिन्न कार्यों से जुड़ा है ये यहाँ के लोगों की दृढ़ आस्था है कि देवी–देवता उनकी सुख–समृद्धि बनाए रखते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं। यहाँ के मुख्यतः सभी लोक नाट्य देवी–देवताओं से जुड़े हैं। जैसे शिमला जनपद का करियाला लोक नाट्य शिर्गुल देवता को समर्पित रहता है। यह लोक नाट्य मनौति रूप मे करवाया जाता है तथा यदि किसी व्यक्ति की मनो–इच्छा पूरी होती है तो वह करियाला लोक नाट्य का मंचन देवता के धन्यवाद स्वरूप में करवाता है। यह लोक नाट्य हास्य प्रधान नाट्य है जिसमें समाज की बुराइयों को तीखे व चुटीले व्यंग्यों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। करियाला लोक नाट्य में चन्द्रौली रास गाया जाता है उसके बाद दुर्गा स्तुति, गणेश स्तुति तथा बीच–बीच में लोगों की फरमाइश पर भी गीत गाए जाते है।

मण्डी जनपद का बांठड़ा लोक नाट्य भी करियाला लोक नाट्य के समरूप है। एक जनश्रुति के अनुसार पुराने समय में राजाओं ने लोगों को सामाजिक कुरीतियों से जागरूक करने के लिए अपने कलाकारों को ऐसा उपाय ढूंढने को कहा जिससे लोगों को आसानी से जागरूक बनाया जाए तो कलाकारों ने ऐसा नाट्य बनाया जिसने गाकर और अभिनय करके लोगो को समाज की कुरीतियों से अवगत कराया गया। इस लोक नाट्य को 'वाणीथड़ा' कहा गया। बाद में इसे बांठड़ा कहा गया। यह भी एक हास्य प्रधान लोक नाट्य है। लोक नाट्य बाठंडा में बांठडा गीत, बंसत ऋतु के आगमन का गीत, देव स्तुतियों के गीत, माल गीत, मनमोहनी स्वांग गीत, साधू स्वांग गीत, भिरटी के स्वांग का गीत आदि सभी स्वांगों के गीत गाए जाते हैं जिस पर वाद्य वृन्दों की थाप पर कलाकार नृत्य करते हैं।

शिमला, सोलन और सिरमौर जनपदों में ठोड़ा लोक नाट्य खेला जाता है। यह एक वीररस युक्त तथा नृत्य प्रधान नाट्य है। यह लोक नाट्य देव कार्य के रूप में किया जाता है। यह पांडव कौरवों के युद्ध को दर्शाता है इसमें दो पक्षों में तीरकमान का खेल खेला जाता है। ठोड़ा कलाकार लोक वाद्यों की धुनों पर नृत्य अभिनय करते हैं। इसी प्रकार लोक नाट्य बरलाज भी शिमला, सोलन और सिरमौर जनपदों में देव कार्य के रूप में किया जाता है। यह भी नृत्य नाट्य है जिसमें रामायण को नृत्य अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जाता हैं। यह लोक नाट्य दिवाली से लेकर अगले 15

दिनों तक किया जाता है।

कांगड़ा और ऊना जनपदो में भगत लोक नाट्य प्रमुख है। भगत वास्तव में 'भक्ति' से प्रेरित लोकनाट्य है और इसके पारम्परिक कलाकार 'भगतिये' कहलाते हैं। यह लोक नाट्य भी देव अनुष्ठान की तरह सम्पन्न होता है। इसकी प्रस्तुति में भी अनेक स्वाँग और नृत्य आदि किए जाते हैं। लोक नाटय भगत कृष्ण लीला पर आधारित नाट्य है। इस नाट्य में गायन, वादन और नृत्य भरपूर रूप से देखने को मिलता है जैसे कृष्णलीला परक गीत, नाटकों किस्सों के अभिनय के मध्य संगीत, भगत के अंत में प्रस्तुत 'भक्तमाला' गायन का संगीत आदि।

बिलासपुर का लोकनाट्य धाजा कृश्ण और मल्ल योद्धा सिद्धचानों की कथा पर आधारित है तथा इसमें तंत्र–मंत्र विद्या का भी समावेश रहता है। यह भी कृष्ण लीला के एक प्रसंग का नाट्य है। इस प्रमुख नाट्य में अन्य स्वाँग भी जोड़े जाते है ताकि लोक नाट्य मनोरंजक बना रहे। धज्जा लोक नाट्य में नारद रूपी पात्र के प्रवेश पर नारद गीत, बौरा गीत, गद्दी –गददण गीत दयोवीर नारसिंह की झांकी का गीत, लैला मजनू का गीत आदि गीत गाए जाते हैं जिनके साथ सभी पारंपरिक वाद्यों का प्रयोग होता है।

हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में लोक नाट्यों की परम्परा आज भी प्राचीन समय जैसी है। जनजातीय क्षेत्रों जैसे कुल्लू, चम्बा, किन्नौर तथा लाहौल–स्पीति के लोक नाट्यों को अभिनय प्रधान, कथा प्रधान, देव नाट्य, अश्लील नाट्य, स्वाँग तथा मुखौटा नाट्य–इन छह श्रेणियों में बांटा जा सकता है। जनजातीय क्षेत्र चम्बा तथा कुल्लू क्षेत्र के देव नाट्यों में बहुत समानताएं हैं। इन लोक नाट्यों में जानवरों के मुखौटो को पहनकर पारम्परिक लोक वाद्यों की धुनों पर नृत्य अभिनय किया जाता है।

जनजातीय क्षेत्र किन्नौर के लोक नाट्यों में कथावस्तु भूत बाधा निवारण हेतु रहती है। जैसे लोक नाट्य बुढ़ाछड् चाश्मि, खोन चाम यानि खोन नृत्य तथा होरिड्–फो लोक नाट्य किन्नौर के प्रम्मुख लोक नाट्य है। इनमें अश्लील नाट्य और मुखौटा नाट्य आदिम जीवन संस्कृति से जुड़े हैं। इन लोक नाट्य में पारम्परिक वाद्यों का भरपूर वादन किया जाता है।

जनजातीय क्षेत्र लाहौल–स्पीति में बुछेन लोक नाट्य परम्परा प्रसिद्ध है। यहां बौद्ध धर्म संस्कृति के लोक रहते हैं। बुछेन एक नियोजित रूप से नृत्य नाट्य है, जिसका सूत्रपात 14वीं शताब्दी में तिब्बत में हुआ था और हिमाचल के सीमांत जनजातीय ज़िला लाहौल–स्पीति की पिन घाटी मे यह परम्परा आज भी जीवित है।

बुछेन और छोदपा लोक नाटय लाहौल–स्पीति के प्रमुख नाट्य है।

हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्यों का एक सुखद पक्ष यह है कि जातीयों में विभाजित समाज के रहते भी, इनमें सभी वर्णों व वर्गों के कलाकार एक साथ भाग लेते हैं। अभिनय में किसी भी जाति के लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार शामिल होते हैं, जबकि संगीत पक्ष में वादक ज़्यादतर दलित वर्गो के होते हैं, जो अपनी वंशानुगत कला में परम्परागत रूप से निपुण होते हैं। उनके हुनर के बिना ये नाट्य सम्पन्न नही होते सकते। लोक नाट्य कुछ ऐसा वातावरण भी निर्मित करते हैं, जहाँ जाति की गणना पीछे छूट जाती है और आदमी के फन की कद्र आगे रहती है। बल्कि ऐसे मंचो पर जातीय या ऊँच–नीच का भेदभाव स्थगित ही हो जाता है, क्योंकि यहाँ लोग पात्रों में रूपांतरित होते हैं। इस तरह लोकनाट्य जाति गणना से हटकर कला की प्रतिष्ठा करते हैं। यही मानवता का वास्तविक स्पप्न भी है।

यह सभी लोक नाट्य हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में विद्यमान है। सांस्कृतिक दृष्टि से इन लोक नाट्यों का बहुत महत्व है। परन्तु आज टेली. विजन और रेडियो जैसे इलैक्ट्रानिक मनोरंजन के साधन आ जाने के बाद इन लोक नाट्यों के प्रति लोग उदासीन होने लगे है। इस कारण लोक नाट्य कलाकारों का जीविका उपार्जन के साधन समाप्त होते चले जा रहे हैं और ये कलाकार अपनी अनमोल कला को छोड़कर दूसरे व्यवसायों की ओर अग्रसर होते चले जा रही है। इन लोक नाट्यों का कोई लिखित रूप प्राप्त नहीं है। पहले सामन्तशाही युग में इन लोक नाट्य कलाकरों तथा लोक संगीत कलाकारों को राजाओं के संरक्षण प्राप्त थे। राजदरबारों में समय–समय पर लोक नाट्यों का आयोजन होता था, जिससे इनका जीवन यापन होता था परन्तु आज लोक नाट्य देव कार्यों से जुड़े मनोकामनाओं तक ही समित रह गया है। वहां भी केवल देव कार्य स्वरूप उसे किया जाता है। लोक रूची इन लोक नाट्यों से कम होती जा रही है।

अर्थात कहा जा सकता है कि यदि ऐसा ही चलता रहा तो लोक नाट्य तथा लोक संगीत आने वाले समय में केवल इतिहास बनकर रह जाएंगे। हमारी आने वाली पीढ़ी इस अमूल्य कला से वंचित रह जाएगी। अतः इस कला को जीवित रखने के लिए सरकार को उचित कदम उठाने चाहिए। सरकार द्वारा इन कलाक. ारों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। लोक संगीत तथा लोक नाट्य को प्रदेश में एक विषय रूप में प्रारम्भ करना चाहिए। इन लोक कलाकारों को नाट्य मंचन के सरकारी अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। सरकार के साथ–साथ यह हमारे समाज का भी दायित्व है कि इन लोक नाट्यों तथा लोक संगीत को संरक्षित करने हेतु अपनी भूमिका निभाए अपने आने वाली पीढ़ी को इस कला से जोड़े रखने के लिए

इन लोकनाट्यों को बच्चों को दिखाते रहें तथा उनकी रूची इन लोक कलाओं में बनाए रखें। हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा इन लोक कलाओं के संरक्षण हेतु स्थानीय अखबारों में समय–समय पर खबरें आती रहती हैं परन्तु इस दिशा में ठोस कदम नहीं उठाए जाते। सरकार द्वारा कभी–कभी इन लोक नाट्यों का मंचन, कुछ जगहों पर करवाया भी जाता है, परन्तु उसके मंचन की खबर बहुत कम लोगों को हो पाती है। केवल प्रादेशिक समाचार में केवल एक बार किसी कार्यक्रम की सूची बता दी जाती है। जिस कारण देखने के इच्छुक लोग कई बार पता न चलने पर उसे नहीं देख पाते इसलिए चाहिए कि ऐसे लोक सांस्कृतिक धरोहर कार्यक्रमों का विज्ञ. ापन अच्छे तरीके से किया जाना चाहिए। यदि लोक इसमें अपनी रूची दिखाएंगे तभी लोक कलाकार और लोक कलाएं भी जीवित रह पाएंगी।

हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्यों का मूल रूप में बने रहना ही श्रेयकर होगा। यह सब कुछ हमें अपनी माटी से बांधता है, हमारे संस्कारों को जीवित रखता है। अपना संगीत, अपना नृत्य, अपना अभिनय हमें 'निज' से सम्बन्ध बनाए रखने में प्रेरण ाा देता है जिस कारण हम अपने प्रदेश की कला और संस्कृति से जुड़े रहते हैं।

f kYik feJk
पीएच॰डी॰ शोधार्थी
संगीत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

लोकसंगीत तथा उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकसंगीत के कुछ विशेष प्रकारों का संक्षिप्त विवरण

भारत में लोक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय लोक संस्कषति में लोक परम्परा के अन्तर्गत ही लोक जीवन व्याप्त है। लोकसंगीत लोगो की रूचि के अनुसार बदलती रहती है। मनुष्य ने जब अपनी दिनचर्या का कार्य करते हुए कुछ गुनगुनाया तथा अपनी खुशी को अंग संचालन द्वारा व्यक्त किया उसी गीत को विद्व ानों ने लोकसंगीत का नाम दिया। लोकसंगीत जनसामान्य में प्रचलित वह संगीत है जो परम्परागत रूप से चलती आ रही है। यह जनसाधारण की आंतरिक भावानाओं का प्रतीक होती है।

Ykksd lxhr dk vFk] mn~Hko rFkk fo kÛkrk

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार जो संगीत देश, काल और जाति आदि के आधार पर स्वयं बनता है, फलता–फूलता है, वह लोकसंगीत है।[1] लोकसंगीतको अंग्रेज़ी में 'फोक' कहते है, 'फोक' का अर्थ है लोक, शब्द, जाति, सर्वधारणा या वर्ग विशेष।लोकसंगीत भारतीय संस्कृति के मिट्टी से जुड़ा हुआ संगीत है। यह उत्सव, पर्व, ऋतु, रीति–रिवाज़ आदि में गाए जाने वाला सांगीतिक प्रकार है। लोकसंगीत के संदर्भ में पं0 ओंकारनाथ ठाकुर का मत है– "देशी संगीत की पृष्ठभूमि ही लोक संगीत है।"

रवीन्द्रनाथ टैगोर के मतानुसार–"संगीत का सुखद संदेश ले जाने वाली कला ही लोकसंगीत है।"[2]

कुछ विद्वानों का मानना है कि मार्गी संगीत में विभिन्न परिवर्तनों का परिण ाम ही लोक संगीत है, अथवा वाग्गेयकारों ने अपनी बुद्धि से प्राचीन निबद्ध संगीत में परिवर्तन करके एक नए संगीत की रचना की, जिसे गान या देशी संगीत कहते है।[3]मानव जीवन के उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करूण की, उसके रूदन की, उसके समस्त सुख–दुख की कहानी लोकसंगीत में चित्रित होती है।

लोकसंगीत मे शास्त्रीय नियमों की बद्धता नहीं होती। राग पीलू, मांड, भैरवी,

गारा, पहाड़ी आदि कुछ ऐसे शास्त्रीय राग हैं जिनमें लोकसंगीत की गायन शैली विशेष रूप से पाई जाती है, लोकसंगीत में दैनिक जीवन के कार्य और भाव निहित होते है जैसे–प्रेम और वेदना, विवाह, जन्म, फसल कटाई, बुआई आदि। लोकसंगीत में भाव और स्वरों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। मानव हृदय की सरल और सरस अभिव्यक्ति सबसे अधिक लोकसंगीत में पायी जाती है। लोकसंगीत के माध्यम से मनुष्य एक ओर रचनात्मक श्रम की प्रशंसा करता है तो दूसरी ओर अपने समाज में किये गये अत्याचार और अन्याय के प्रति घृणा भी व्यक्त करता है। लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत का पुट पाया जाना अस्वाभाविक नही है अतः कलाकार लोकगीत गाते समयशास्त्रीय संगीत के सिद्धान्त का मोह वहीं तक रखते है जहाँ तक कि लोक–धुन की सहज प्रकृति और नैसर्गिकता पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। लोकसंगीत के विषय में हमारे प्रधानमन्त्री स्व0 पं0 जवाहर लाल नेहरू के ये उद्‌गार युक्तियुक्त है''लोक कला में हमें अपने उस सांस्कृतिक वैभव को देखने का अवसर मिलता है, जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र मे बाँधा है।"[4] जैसे कुछ व्यक्ति शास्त्रीय संगीत का अर्थ 'ख़्याल' समझते है, वैसे ही कुछ लोग लोकसंगीत का अभिप्रांय 'ग्राम्य संगीत' समझते है। लोकसंगीत लोक का मनोरंजन करती है। लोकसंगीत के अन्तर्गत लोक गाथा, लोक कथा, पहेलियाँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि का भी प्रयोग होता है। लोकगीत जनता के विचारों और भावनाओं को सीधे–साधे रूपमें व्यक्त करते हैं। उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकसंगीत के कुछ विशेष प्रकारों के अन्तर्गत कजरी, चैती, होरी, बारहमासा, विवाह गीत, सोहर आदि आते हैं।

mók j -nk e -pfyr ykdxhrk d dN fo kÛk idkjk dk lf{kIr fooj.k

d t jh

कजरी गायन शैली ऋतु से संबंधित होती है। इसे सावन के महीने में गाया जाता है। इसमें वर्षा–ऋतु का वर्णन, विरह–वर्णन तथा राधा–कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिकतर मिलता है। यह श्रृंगार प्रधान गीत है। मिथिला में 'कजरी' से मिलता–जुलता गीत 'मलार' है। सावन–भादों के महीने में ब्रज में 'मोरा' गीत गाये जाते हैं। बनारस में कजरी गाने का प्रचार अधिक पाया जाता है।

पद्मविभूषणश्रीमती गिरिजा देवी जी के अनुसार 'कजरी' में भी कई प्रकार की यहां पर कजरियां होती थीं जैसे किसी में दोहे की कजरी होती थी। किसी में चार लाईन की कजरी होती थी। ये लोकगीत हैं हमारा । लेकिन इसको लोगों ने गुरूजनों ने, बड़े लोगों ने इसको अपने शास्त्रीय संगीत में लेकर बड़ा अच्छा बोल बना करके

इसमें कहा है, जैसे–''आये नही छैल बिहारी रे सावरिया।'' अब दोहा कहते वक्त तबला रूक जाता है जैसे–''गरीज गरीज सखी बादल बरसत है झकझोर''... अब इसके भी बोल बनते हैं।[5]

बनारस घराने के कलाकार पं0 भोलानाथ मिश्र जी के मतानुसार बनारस की प्रसिद्ध एक कजरी है जिसकी रचना बनारस घराने के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ 'श्री रामदास जी ने की है।

d t jh

jkx nsl] rky dgjok

स्थायी

हमरे सांवरिया नहीं आए सजनी छायी घटा घन घोर

vUrjk

1. दादुर मोर पपिहा बोले कोयल कर रही शोर

प प ध (सां)	नि – – –
ऽ ऽ सा (ऽ)	ऽ – व रि
x	0
नि ध प –	– – प ध
(या) ऽ ऽ	ऽ ऽ न हीं
x	0
म प नि ध	प म ग रेसा
आ ऽ ऽ ऽ	ए ऽ ऽ ऽऽ
x	0
सा सा सा रे	ग सा रे ग
ऽ स ज नी	ऽ ऽ ऽ ऽ
x	0
ग ग – ग	ग ग ग म
ऽ छा ऽ ऽ	ई ऽ ऽ घ
x	0
म ग रे ग	ग ग सा नि
टा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ घ न
x	0
सा सा – –	सा – – –
घो ऽ ऽ ऽ	र ऽ ऽ ऽ
x	0

प	प ध प –
ह	म रे ऽ ऽ
0	

2. रामदास के गोविन्द स्वामी, छैल छबीले चित चोर।[6]

बनारस घराने की प्रसिद्ध कजरी को मैंने स्वयं स्वरलिपिबद्ध किया है जो इस प्रकार है:—

	म रे रे म म
	दा ऽ ऽ दु र
प प प प	प प प म
मो र ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ प
X	0
प प प प	प प म म
पि ऽ ऽ हा	ऽ ऽ ऽ ऽ
X	0
म प ध म	म ग रे –
बो ऽ ऽ ले	ऽ ऽ ऽ ऽ
X	0
रे म प नि	– – – –
ऽ ऐ री को	य ल ऽ ऽ
X	0
नि – – –	सां सां सां –
ऽ क र र	हीं ऽ ऽ ऽ
X	0
प ध म ग	रे रे रे रे
शो ऽ र ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
X	0
रे प म ग	रे ग ग ग
स ज नी ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
X	0
ग ग ग ग	ग ग ग म
ऽ छा ऽ ऽ	ई ऽ ऽ घ
X	0
म ग रे ग	ग ग सा नि
टा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ घ न
X	0
सा सा – –	सा – – –
घो ऽ ऽ ऽ	र ऽ ऽ ऽ

2. दूसरा अंतरा भी पहले अंतरे के समान गाया जाएगा।

p|rh

चैत्र मास में गाई जाने वाली लोक गायन शैली चैती कहलाती है। चैत्र शब्द चित्रा में अण् प्रत्यय के योग से बना है। यह एक चन्द्रमास का नाम है जिसमें चन्द्रमा चित्र नक्षत्र में स्थित रहता है। यह महीना अंग्रेजी के मार्च–अप्रैल महीने में पड़ता है। चैती गायन शैली में प्रेम से संबंधित विविध रूपों का वर्णन होता है। कहीं आलसी पति को सूर्योदय के बाद सोने से जगाने का वर्णन है, तो कहीं पति–पत्नी के प्रणय–कलह की झांकी देखने को मिलती है। कहीं ननद और भावज के पनघट पर पानी भरते समय किसी दुश्चरित्र पुरूष द्वारा छेड़खानी का उल्लेख है तो कहीं सिर पर मटका रखकर दही बेचने वाली ग्वालिनों से कृष्ण के गोरस मांगने का वर्णन है। कहीं राधा–कृष्ण के प्रेम–प्रसंग हैं, तो कहीं राम–सीता का आदर्श दाम्पत्य–प्रेम है। कहीं दशरथनन्दन के जन्म का आनन्दोत्सव चित्रित हुआ है तो कहीं राम और उनके भाईयों के बीच का नैसर्गिक प्रेम प्रदर्शित हुआ है। कहीं स्वकीया तथा परकीया नायिका के प्रेम के विविध रूप दिखाये गये हैं। तात्पर्य यह कि गीतों में विविध कथानकों का समावेश पाया जाता है।

gkjh

होरी मस्ती भरा राष्ट्रीय त्यौहार है इस दिन बड़े–छोटे, ऊँच–नीच का भेद नहीं रहता। इसे फागुआ' या 'फाग' भी कहते हैं। यह फाल्गुन महीने में पूर्णिमा प्रतिपदा को मनाया जाता है। इस प्रकार की गायन शैली में राधा–कृष्ण की होली, शिव शंकर की होली, आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

शब्द व्युत्पत्ति की दुष्टि से होली शब्द 'हो' तथा 'ली' इन दो शब्दों के संयोग से बना है। भाषा शब्द कोश के अनुसार 'हो' शब्द संबोधन वाचक है और आनंद और उल्लास एवं हर्ष की अभिव्यक्ति का बोधक है। आनंद एवं उल्लास की प्रवृत्ति होली गान की समस्त विधाओं में परिलक्षित होती है। जनभाषाओं में 'ल' के स्थान पर प्रायः 'र' का भी प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा में होली शब्द का व्यवहार 'होरी' के रूप में होता है वहीं लोक भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों में 'र' का प्रयोग भी तत्र प्राप्त होता है जैसे कजली या कजरी, घर वाला या घरवारा, धमाल या धमार इत्यादि। यह गायन शैली होली पर्व से संबंधित है। हिन्दुस्तानी संगीत में होली गान की दो विधाएँ हैं – होरी धमार, होली ठुमरी।

ckjgekl

बारहमासा नामक गीत में बारह महीने का बड़ा रूचिकर वर्णन मिलता है। ऋतु गीतों में यह बड़ा लोकप्रिय है। यह गीत वर्षा ऋतु में गाया जाता है। गीत में अधिकतर कष्ष्ण, राधा तथा गोपियों को आधार बनाया जाता है। बारहमासा की ध ुन प्रायः कजरी से मिलती–जुलती है। विरह प्रधान होने के कारण प्रायः धीमी लय में गाया जाता है। बारहमासा मुख्यतः रूपक ताल में तथा कभी–कभी कहरवा ताल में गाया जाता है।

इसे स्त्री, पुरूष सभी गाते हैं। बारहमासी ढोलक के साथ भी गाई जाती है। बिना ताल के भी इसे गाते हैं। प्रसिद्ध ठुमरी गायिका श्रीमती सुनंदा शर्मा के अनुसार बनारस का एक बारहमासा बहुत प्रचलित है जो इस प्रकार है :–

jkx fdjokuh] rky nknjk

LFkk;h

''दुपहरिया बिताईला हो, बलम दुपहरिया बिताईला हो,
नई झुलनी के छैंया बलम
दुपहरिया बिताईला हो।''

vUrjk

1. चार महीना के गर्मी पड़त हैं
टप–टप चुएला पसिनवां बलम
जरा बेनिया डूलाईदा हो।
2. चार महीना के बरखा पड़त हैं।
रिमझिम बरसेला पनियां
बलम ज़रा बंगला छबाईदा हो ।
3. चार महीना के जाड़ा पड़त हैं
थर–थर कापेला जियरा बलम
जरा गरवां लगाईला हो।[7]

इस बारहमासा की स्वरलिपि मैंने स्वयं की है जो इस प्रकार हैः–

	प | प दु | प
ध सां – ह रि या x	सां – – ऽ ऽ बि o
सां –– ता ई ऽ x	रें सां नि ला ऽ ऽ o
नि – – हों ऽ ऽ x	– – ध ऽ ऽ ब o
पध ध ध लम ऽ ऽ x	ध प म ऽ दु प o
म प प	प प प

ह रि या	ऽ ऽ बि
x	o
प प ध	सां नि ध
ता ऽ ई	ला ऽ ऽ
x	o
प प प	प प प
हो ऽ ऽ	ऽ न ई
x	o
प प ध	प म म
झु ल नी	ऽ ऽ की
x	o
म म प	— — म
छैं ऽ या	ऽ ऽ ब
x	o
ग रे ग	— रे सा
ल म ऽ	ऽ दु प
x	o
रे म म	— — म
ह रि या	ऽ ऽ बि
x	o
प प प	ध प प
त ऽ ई	ला ऽ ऽ
x	o
प — —	
हो ऽ ऽ	
x	

अंतरा

प	प प ध
चा	ऽ र म

सां सां सां	सां सां सां
ही ऽ ना	ऽ ऽ के
x	o
सां —नि	— सां सां
ऽ ऽ ग	र मी प
x	o
नि रे सां	ध प प
ड़ ऽ त	हे ऽ ऽ
x	o
प प प	प प प
ऽ ऽ ट	प ट प
x	o
पध प म	म म म
चुऽ ला ऽ	ऽ ऽ प
x	o
म प प	प प म

सि न वा	ऽ ऽ व
x	0
ग रे ग	ग रे सा
ल ऽ म	ऽ ज़ रा
x	0
रे म म	— — म
बे नि या	ऽ ऽ डू
x	0
प प प	ध प प
ल ऽ ई	दा ऽ ऽ
x	0
प प प	
हो ऽ ऽ	
x	

दूसरा और तीसरा अतरा भी पहले अतरे के समान गाया जाएगा।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोक–संगीत की आवश्यकता और महत्व को स्वीकारा जा रहा है, जिसके कारण लोकसंगीत का सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, ऐतिहासिक व शास्त्रीय महत्व विशेष रूप से बढ़ रहा है। भारतीय संस्कृति का अध्ययन व ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी लोकसंगीत सशक्त माध्यम है।

l nHkd xFk l ph

1. संगीत रत्नावली, अशोक कुमार, पृ0 549
2. भारतीय लोकसंगीत (संरक्षण, संवर्धन, संभवनाएं), वीणा श्रीवास्तव, पृ0 166
3. संगीत शास्त्र दर्पण–2, श्रीमती शान्ति गोवर्धन, पृ0 2
4. लोकगीतों में नाद–सौन्दर्य, पुष्पा शर्मा, पृ0 209
5. छायानट अंक 44, (जनवरी–मार्च, 1988), "चौमुखी गायकी की पीठ", प्रस्तुति – कुमारी हीराचढ्ढा, पृ0 48
6. भेंटवार्ता, पं0 भोलानाथ मिश्र, 12.11.2013, दिल्ली

Mk- e;t; lDlsuk (शोध निर्देशिका)
सेवानिवृत व्याख्याता
सेठ नन्दकिशोर पटवारी राजकीय महाविद्यालय
e;d k cxfM;k (शोधार्थी)
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

Hkkjrh; thou&n kku dk Lo:i

सामान्यतया 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'देखना' है। 'दृश्' धातु का प्रेक्षण अर्थ है ''प्रकृष्ट रूप से देखना।'' अतः ज्ञान की दृष्टि से ही देखना ही दर्शन शब्द का मूलार्थ है। अंग्रेजी भाषा में दर्शन शब्द 'फिलॉस्फी' शब्द का रूपान्तरण है। इस शब्द की उत्पति ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'फिलॉस' तथा 'सोफिया' से हुई है। 'फिलॉस' का अर्थ है 'अनुराग' और 'सोफिया' का अर्थ है 'ज्ञान'।

इस प्रकार फिलास्फी अर्थात दर्शन का शाब्दिक अर्थ है ज्ञान–अनुराग अथवा ज्ञान का प्रेम । इस दृष्टि से ज्ञान अथवा सत्य की खोज करना और उसके वास्तविक स्वरूप को समझने की कला को दर्शन कहा गया है। किसी कार्य को करने से पहले जो मनुष्य इस दर्शन रूपी कला को उपयोग में लेता है उसे 'दार्शनिक' कहते हैं। सरल रूप में दर्शन का अभिप्राय अमूर्त–चिन्तन करने के उस प्रयास से है जिसके द्वारा आत्मा, ईश्वर, प्रकृति तथा सम्पूर्ण–जीवन का रहस्य उजागर किया जाता है। इन रहस्यों में मनुष्य कौन है तथा क्या है? मानव जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है? प्रकृति का स्वरूप क्या है? तथा उसका मनुष्य के साथ क्या संबंध है? सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र इत्यादि की दार्शनिक अभिव्यक्ति क्या है? तथा इनका वास्तविक संदेश क्या है? ईश्वर कौन है? तथा उसका स्वरूप क्या है? मृत्यु, मोक्ष, कर्म, पुनर्जन्म क्या है? इत्यादि सभी बातों के गूढ रहस्यों को उजागर करने का कार्य दर्शन द्वारा किया जाता है।

मूल रूप से हम यह कह सकते है कि दर्शन सबसे जटिल समस्यओं का सरल, अनुशासित तथा सावधानी के साथ किया गया विश्लेषण है। जिसका मानव ने कभी अनुभव किया हो या भविष्य में उसका अनुभव करे। दर्शन का वास्तविक लक्ष्य सत्य की खोज करना है। हम यह भी कह सकते हैं कि समाज में रहकर मनुष्य विभिन्न प्रकार के उचित–अनुचित अनुभव करता है लेकिन दर्शन मनुष्य को उचित का चुनाव करने में मदद करता है।

मनुष्य वास्तव में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक क्षण सत्य की खोज में ही लगा रहता है क्योंकि संसार का प्रत्येक स्वस्थ मानव जन्मजात दार्शनिक होता

है। दर्शन अपने आप में सूक्ष्म दृष्टि रखता है। इस सूक्ष्म दृष्टि का आधार–स्तम्भ अनुभव रहा है। दर्शन का जन्म अनुभव तथा परिस्थितियों के आधार पर हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग अनुभव होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति ने विभिन्न प्रकार के जीवन दर्शन की कल्पना की है। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि बुद्ध ने मोक्ष या मुक्ति दर्शन का प्रचार किया तथा कष्टों को दूर करने के साधन खोजे। ईसा और मुहम्मद ने अपने दर्शन में धर्म विशेष को महत्व दिया है। हिटलर बहादुरी का पुजारी था। उसने साहस, जोश दर्शन का प्रचार किया इनके विपरीत उमर खैयाम का विश्वास था कि यह संसार नाशवान है अतः इस संसार में रहते हुए जितना भी आनंद लो वह उतना ही कम है। तथा इस विश्वास के आधार पर उमर खैयाम ने मदिरा और स्त्रियों को स्थान देते हुए भौतिकवादी–दर्शन का प्रचार किया है। लेकिन उमर खैयाम का यह भौतिकवादी दर्शन भारतीय दर्शन परंपरा से परे की बात है। इसी प्रकार जैन दर्शन और महात्मा गाँधी ने अहिंसात्मक–दर्शन की प्रतिष्ठा की है।

भारतीय दर्शन में आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभुतियों को वरीयता दी गई है। यह प्रत्यक्ष अनुभूतियां ही सत्य का ज्ञान करवाते हुए मनुष्य जीवन को विकसित और स्वस्थ बनाती है। दर्शन जीवन के वास्तविक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन भी करता है। दर्शन किसी भी कार्य को करने का विचार–पक्ष है तथा हमें अपनी आत्मशक्ति को पहचानने और विकसित करने की वैचारिक शक्ति प्रदान करता है। दर्शन का उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य किसी एक धर्म अथवा एक ईश्वर के अस्तित्व में जकड़ा रहे। दर्शन एक व्यापक स्वरूप है जो प्रत्येक धर्म और दर्शन की महत्वपूर्ण बातों का अनुसरण करते हुए जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करता है। दर्शन ज्ञान और बुद्धि का ऐसा संगम है जिसके द्वारा मानवता का बौद्धिक–कल्याण होता है। महात्मा बुद्ध ने कहा है ''मनुष्य की सीमित–बुद्धि के बाहर मानव के चेतन तत्व से सम्बद्ध ज्ञान की सीमा से परे कोई ऐसी शक्ति है जिससे समस्त सृष्टि शासित है।''

यह शक्ति दर्शन ही है। दर्शन मनुष्य और सृष्टि के अनुशासित–जीवन जीने की कला का नाम है। यह अनुशासन सभ्यता और संस्कृति का विकास करता है तथा मनुष्य के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों मे इस दर्शन रूपी अनुशासन का विशेष महत्व है। दर्शन किसी बिन्दुओं, सिद्धान्तों और नियमों में बंधी हुई वस्तु नहीं है बल्कि दर्शन स्वतंत्र मानवीय विकास की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

भारतीय–दर्शन ज्ञान को व्यक्त करता है और ज्ञान का सीधा संबंध शिक्षा से

है। शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक रूप है तथा जीवन के आदर्शों का व्यावहारिक–साध न है। शिक्षा उन लक्ष्यों अथवा आदर्शों की प्राप्ति में सहायता करती है जिनको दार्शनिकों ने अपने दर्शन में निश्चित किया है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षा दर्शन के लक्ष्य प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है। यह भी कह सकते हैं कि बिना दर्शन की सहायता से शिक्षा अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं हो सकती है क्योंकि दर्शन व्यक्ति की मौलिक विचारधारा एवं चिंतन का परिणाम है। शिक्षा एक यथार्थ तत्व की अनुभुति है अर्थात ''दृश्यते यथार्थ तत्वमनेन''।

डॉ. राधाकष्ण के अनुसार ****n ku ;FkkFk Lo: i dk rkfdd Kku gA****

भारतीय दार्शनिकों ने दर्शन की व्याख्या अपने अपने ग्रन्थों में की है। इन सभी ग्रन्थों में दिए गए दार्शनिक विचारों को विद्वानों ने अपने अपने तर्कों से पुष्ट किया है क्योंकि तर्क वास्तविकता को समझने और समझाने का एक तरीका है। इन सभी दर्शनों में एक गीता दर्शन है जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित करता है। यह गीता दर्शन किसी भी एक धर्म तथा समुदाय से न जुड़ते हुए अपनी स्वतंत्र तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस गीता–दर्शन में किसी ईश्वर या धर्म की कल्पना न करके कर्म–सता को ही महत्व दिया गया है। गीता–दर्शन का मानना है कि यदि ईश्वर कहीं है तो वह मानव के मस्तिष्क और उसके हाथों में विद्यमान है। मनुष्य को अपनी बुद्धि से श्रेष्ठ विचार ग्रहण करने चाहिए और उन श्रेष्ठ विचारों को आधार मानते हुए मनुष्य को अपने श्रेष्ठ हाथों से श्रेष्ठ कर्म करना चाहिए। जो मनुष्य श्रेष्ठ कर्म से श्रेष्ठ सता का निर्माण करता है

प्रो. किरन सरना (शोध निर्देशिका)
प्रिया बापलावत (शोध छात्रा)
विजुअल आर्ट विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

जगमोहन माथोड़िया के भावपूर्ण रेखाचित्र

आदिकाल से ही रेखाएँ मानव के कलात्मक भावों की सहचरी रही है जिसके द्वारा मानव ने अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति को शिलाखण्डों की दीवारों पर अंकित करते हुए सौन्दर्यमयी भावों का उद्घाटन सरल व सहज रेखाओं के माध्यम द्वारा किया तथा यहीं से ''मानव की प्रतिक्रियाएँ सर्वप्रथम रेखांकन के रूप में संसार के समक्ष आयी। आदिम चित्रकार ने ही परवर्ती सन्तति को रेखा का अमूल्य उपहार प्रदान किया जो आज तक चला आ रहा है।''[1] इस प्रकार रेखांकन ही कला का प्राणतत्व है। जिसके द्वारा मानव मन की अभिव्यक्ति एक निश्चित आकार ग्रहण करती है।

''रेखांकन के बिना किसी कला का अस्तित्व नहीं है रेखांकन चित्र का प्रारूप तैयार करने के साथ–साथ उसे निश्चित रूपाकार भी देता है इस प्रकार रेखा चित्र का विशेष गुण है।''[2] जिसके द्वारा कलाकार की अभिव्यक्तियाँ भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकट होते हुए दर्शक के मन में संवेदनात्मकता का आलोक उत्पन्न करती है।

रेखाओं का मर्म ही चित्रों की आधारशिला है जिससे एक कृति को मूर्त्त रूप दिया जाता है। ''इसलिए जिन्हें कला में श्वेत श्याम सरलता और सादगी पंसद है उन्हें रेखाओं से निर्मित चित्र अवश्य आकर्षित करते हैं अपने घुमाव फिराब, बारीकी और मोटाई, अपनी तेज और मंथन गतियों से रेखाएँ कई तरह की क्रीड़ाएँ और कौतुक रचती चली जाती है। रेखाचित्र केवल चित्रों का आधार मात्र नहीं होते बल्कि अपने आप में वह एक पूर्ण कलाकृति भी होते हैं। कुछ चितेरों की पहचान सिर्फ रेखांकनों से ही हैं अर्थात् जिन्होंने ने अपने प्रारम्भिक कलाकार जीवन को रेखाचित्रों से आरम्भ किया तथा रेखाचित्रों को आधार बनाकर ही उन्होंने अनेक विषयों पर आध ाारित श्रृंखलाओं का निर्माण किया है।

राजस्थान में रेखांकन विधा का विकास दीर्घकाल से हुआ पिछले एक दो दशकों में रेखाएँ यहॉ जिस रतार और तेजी के साथ चल निकली है वह आश्चर्यचकित करने वाली है यहॉ के अनेक चितेरों ने रेखांकनों की राष्ट्रीय स्तर की प्रदर्शनियों में भागीदारी की है रेखांकनों से जुड़े चितेरे खुद अपने रेखांकनों की एकल और समूह

प्रदर्शनियों का आयोजन करते रहे।''[3] राजस्थान के समकालीन कलाकार डॉ. जगमोहन माथोड़िया जी भी इसी दिशा में निरन्तर सृजनरत हैं। जिन्होंने अपने रेखाचित्रों के माध्यम से भावों को सौन्दर्यात्मक रूप से चित्रित किया हैं आपके रेखाचित्र अत्यन्त सरल व सहज है जिनमें निहित भावों को सरलता से समझा जा सकता है। डॉ. जगमोहन माथोड़िया के आरंभिक दौर में जाए तो पता चलता है कि वे अध्ययन काल के दौरान से ही स्मृति के आधार पर रेखाओं के माध्यम से देखे हुए को हूबहू चित्रित कर दिया करते थे जिसे देखकर आपके आस–पड़ोस के लोग आपके चित्रों की भरसक प्रशंसा करते थे। आप जब भी किसी वस्तु अथवा दृश्य का चित्र बनाते थे तो उसे पेंसिल, पेन अथवा चारकोल से उसकी रूपरेखा बनाते और फिर उसमें अपनी कल्पना के रंग भरते। ऐसा करते हुए रेखाओं में आप धीरे– धीरे इस तरह समाहित हो गये की रेखाचित्रों की एक वृहद् श्रृंखला का निर्माण कर दिया।

डॉ. जगमोहन माथोड़िया के रेखाचित्र लगभग तीस साल लम्बी यात्रा है। इस दौरान आपने चित्र और रेखांकन दोनों बनाये हैं रेखाओं से क्रीड़ा करने वाले इस चितेरे ने तकनीक से वह विभिन्न विषय को आधार बनाकर, रेखाओं का रचनात्मक संसार रचा है। आपके रेखाचित्रों की रेखाएँ इतनी सरल व सहज है की भावों का स्पष्टीकरण स्वयं ही हो जाता है। आपके चित्रों में रेखाओं का जादू है जो दर्शक को अपनी ओर सम्मोहित करने में सफल रहता है कुछ एक सीरिज में आपने एक दो रेखाओं से रेखाचित्रों को पूरा किया है। डॉ. जगमोहन माथोड़िया ऐसे कलाकार है जो अपने रेखाकंनों में विषय के प्रति ज्यादा सजग है आपके विषय वृहद् विस्तार लिए हुए है। पशुओं और मानव के चेहरों परिन्दों और समाज के अत्यन्त उपेक्षित जीवश्वान पर अलग–अलग सीरिज का निर्माण किया है। एक सीरिज में 500 से भी ज्यादा रेखांकन हैं एक–एक रेखाचित्रों में सौ के करीब तक आकृतियॉ उकेरी है। श्वान श्रृंखला के अन्तर्गत राजनैतिक भाषण नामक रेखाचित्र में कलाकार माथोड़िया जी ने अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है साथ ही एक ही रेखाचित्र में अनेक श्वान आकृतियों को पूर्ण लयात्मकता के साथ चित्रित करते हुए आज के राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को उभारनें का प्रयास किया हैं।(रेखाचित्र संख्या 1)

(रेखाचित्र संख्या 1)

प्रस्तुत रेखाचित्र के द्वारा माथोड़िया जी ने आज के राजनेताओं पर तीक्ष्ण अभिव्यक्ति की हैं। दो प्रमुख श्वानों को माईक पर राजनैतिक भाषण देते हुए दर्शित किया है जो राजनेता के प्रतीक रूप में दर्शित किये गये हैं। चुनाव पास आते ही राजनेता अपने झूठे भाषणों के द्वारा जनता का ध्यान अपनी और आकर्षित करते है तथा जनता से झूठे वादे करते है ताकि जनता उन्हें वोट दे किन्तु चुनाव के पश्चात् एक भी वादे पूरे नहीं किये जाते इसी भाव का स्पष्ट व सटीक चित्रण प्रस्तुत रेंखाचित्र में किया गया हैं तथा जनता के रूप में असंख्य श्वानों को भाषण सुनते हुए दर्शित किया हैं। इस प्रकार माथोड़िया जी ने एक ही रेखाचित्र में असंख्य आकृतियों को पूर्ण कुशलता के साथ चित्रित करते हुए भावों को सृजनात्मकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया हैं। साथ ही प्रस्तुत रेखाचित्र का निर्माण कर माथोड़िया जी ने अपने सामाजिक दायित्व को पूर्ण ईमानदारी के साथ निभाया हैं।

इसके अतिरिक्त आपके रेखाचित्रों में एक संतुलित गति है जो उड़ते परिन्दों के समुदाय जैसे अनेकानेक रेखांकनों पर रेखाओं और परिन्दों की उड़नशील गति एक साथ आस्वाद देती है। जिसे प्रस्तुत कृति उड़ान में देखा जा सकता हैं। रेखाचित्र में विभिन्न पक्षियों एवं उनकी विविध मुद्राओं का अकंन करते हुए सम्पूर्ण रेखाचित्र में लयात्मकता का संचार किया है।(रेखाचित्र संख्या 2)

(रेखाचित्र संख्या 2)

रेखाचित्र में उगते हुए सूर्य की अरूणिमा से सचेट पक्षियों द्वारा अपने घोंसले को छोड़ते हुए आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरते पक्षियों की गतिशील अवस्था का स्वछन्द अंकन किया गया है तथा पृष्ठभूमि में छोटे–बड़े पक्षियों की सूक्ष्म अनुभूतियों जैसे चोंच मिलाते हुए, पंख फड़फड़ाते हुए जैसी सूक्ष्म गतिविधियों का चित्रांकन अत्यन्त संवेदनशीलता के साथ किया गया हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण रेखाचित्र में पक्षियों का विस्तृत संसार मुखरित हुआ है। रेखाचित्र में रेखाओं की सघनता, अनन्त मर्म संजोए हुए हैं। साथ ही रेखाचित्र में प्रयुक्त लयात्मक रेखाएँ माधुर्य का आभास कराती प्रतीत होती हैं।

प्रस्तुत रेखाचित्र में प्राकृतिक परिवेश के साथ विभिन्न पक्षियों एवं उनकी विविध मुद्राओं का अंकन करते हुए मानव मन में अंतनिर्हित पक्षी प्रेम उद्घाटित करना कलाकार जगमोहन माथोड़िया का मुख्य उद्देश्य है।

''अतः माथोड़िया जी के रेखाचित्रों में रेखाएँ लयात्मक गति से उनके रेखाचित्र में कल्पना के आकार ही नही लेती बल्कि भाव, स्पन्दन और क्रियाशीलता के साथ संगति स्थापित कर सर्वथा नये रूप में संसार का सृजन भी करतें हैं।''[4]

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों, मानवीय मुखाकृति, तीज त्यौहार तथा प्रेम जैसे संवेदनशील विषयों के रेखांकनों के द्वारा आपने अपने भावों को साकार रूप दिया है। जिसके कारण आपके रेखाचित्रों के विषयों में विभिन्नता का समावेश दिखाई देता है। यहाँ पर प्रेमाजंली श्रृखंला के अन्तर्गत 'प्रतीक्षा' नामक चित्र का उदाहरण देना उपयुक्त होगा जहाँ कलाकार ने एक स्त्री के भीतर छीपे अविरल प्रेम को रेखाओं के माध्यम से दर्शाया हैं।

प्रस्तुत रेखाचित्र को पेन द्वारा चित्रित किया गया है। रेखाचित्र में प्रेम के संयोग व उल्लास, उदासी, व्याकुलता का सघन स्वर प्रस्तुत रेखाचित्र में मुखर हुआ है। सम्पूर्ण रेखाचित्र में प्रेयसी द्वारा अपने प्रियतम के मिलने की प्रतीक्षा का मार्मिक चित्रण कर स्त्री के मन की अंनत गहराईयों का भाव विमुग्ध चित्रण किया गया है। प्रेयसी के नेत्रों में जहॉ प्रेम की आकुलता है वही प्रिय से मिलने की तीव्र व्याकुलता का भाव स्पष्ट रूप से रेखाचित्र में दृष्टिगत होता है। स्त्री के हाथ में पुष्प का चित्रण यौवन का प्रतीक बन कर प्रकट हुआ है। तथा स्त्री आकृति में अंग भंगिमाओं एवं हस्त मुद्राओं का सजीव एवं गतिपूर्ण अंकन हुआ है तथा स्त्री मुखाकृति में प्रेम के विभिन्न भावों का चित्रात्मक रूप बड़ी ही सहजता से अंकित किया है। रेखाचित्र में रेखाऍ बारीकी एवं स्पष्ट होते हुए अभिव्यक्तिपूर्ण गतिशील एवं सशक्त है। इस प्रकार कलाकार ने रेखाओं की स्पष्टता एवं बारीकी द्वारा नायिका के प्रत्येक पक्ष को

इतना आकर्षक बनाया है जिसे देखकर दर्शक मोहित हुए बिना नहीं रह सकता। कलाकार माथोड़िया जी द्वारा निर्मित चित्रों में रेखाऐं दर्शक की दृष्टि को अन्तहीन विस्तार देती है इसके अतिरिक्त माथोड़िया जी ने रेखाचित्रों में अनेक प्रयोग किये हैं।(रेखाचित्र संख्या 3)

(रेखाचित्र संख्या 3)

''रेखांकनों को पूर्ण रूप देने के लिए माथोड़िया जी खाली समय, या बातचीत करते हुए भी पेंसिल या कलम के साथ हाथ चलाते रहते हैं कभी–कभी अपने लयात्मक रेखांकनों के अभ्यास के लिए खाली कागज पर आड़ी तिरछी सीधी या वक्राकार तनी हुई या लयात्मक विभिन्न प्रकार की रेखाओं का अभ्यास किया करते हैं जो उनके तटस्थ अभ्यास के अनुरूप एक परिपक्व आकार लेने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगाते।''[5]

''माथोड़िया जी के रेखाचित्रों का परिशीलन करना भावनाओं के सहज मधुर अंतस्पर्शी इन्द्रलोक के सूक्ष्म सौन्दर्य वैभव में विचरण करने जैसा है।''[6] अतः निष्कर्ष स्वरूप कह सकते है किमाथोड़िया के रेखाचित्रों में जीवन के प्रत्येक स्थिति के दर्शन होते हैं एक ही चित्र में माथोड़िया जी ने जीवन की प्रत्येक स्थिति चाहे वह मानवाकृति हो, प्रकृति का कोई स्वरूप हो अथवा आध्यात्म से प्रेरित बिंब हो, या प्रेम की मधुर रंजना हो या फिर पशु–पक्षियों की सूक्ष्म अनुभूतियाँ हो इन सभी को चित्रकार ने गतिशील व बारीक रेखाओं द्वारा जीवंत किया है। आपने अपनी प्रत्येक शृंखला में इन सभी को सहजता से पिरोया है। जो आपकी वैविध्यपूर्ण सोच, नवीन दृष्टि एवं प्रत्येक संरचना से उनके करीबी रिश्ते का द्योतक है।

''आपके रेखाचित्रों में भावों का ऐसा प्रवाह है जो मानव के अंतर्जगत को छूता चला जाता है आप अभिव्यक्ति में सादगी के साथ–साथ भावों को बड़ी ही शालीनता के साथ अपने पैनेपन के साथ उद्घाटित करते हैं''[7] इस प्रकार रेखाओं के द्वारा कलाकार ने सौन्दर्य के नवीन प्रतिमान स्थापित किये हैं। जो दर्शक को संवेदना के महीन तंतुओं से जोड़ते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कुमावत, डॉ. सोनालिका, सुमहेन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व समसामयिक कला एवं कलाकार, राज पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, प्रथम संस्करण–2015, पृ.सं. 68
2. वही, पृ.सं. 68
3. शर्मा, रंजनचन्द्र, प्रकाश रेखाओं का मर्म–राजस्थान पत्रिका, 9.10.11
4. व्यास, डॉ. राजेश कुमार कलावाक्, राजस्थान ललित कला अकादमी, प्रथम संस्करण–2010, पृ.सं. 140
5. मिश्र, अवधेश, संवेदना की रंग दृष्टि नित्यानन्द महापात्र, कला दीर्घा, दृश्य कला की अंतरदेशीय पत्रिका, संपादक अवधेश मिश्र, गोमती नगर प्रकाशन उत्कर्ष प्रतिष्ठान, लखनऊ, अप्रैल 2010, वर्ष 10, अंक 20, पृ.सं. 69
6. दोमड़िया, डॉ. डी.एम., हरिवंशराय बच्चन की साहित्य साधना, के.एस. पब्लिकेशन्स, भोपाल, प्रथम संस्करण– 2011, पृ.सं.151
7. पाण्डेय, डॉ. ओम प्रकाश, भवानी प्रसाद का काव्य वैभव, विपाशा, हिमाचल प्रदेश के

बनवारी लाल यादव
शोधार्थी
इतिहास व संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

राजस्थान की जनजातियों में राजनैतिक चेतना

मेवाड़ के गुहिलवंशी रावल खेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सामन्तसिंह ने गुजरात के सोलंकी राजा अजयपाल से युद्ध कर 13वीं शताब्दी में वाग्वर या वागड़ राज्य की स्थापना की। कर्नल टॉड का कथन है कि जब समरसिंह का पुत्र कर्ण चित्तौड़ पर राज्य कर रहा था तब उसका पुत्र माहप वागड़ प्रदेश मे ंचला गया। मेवाड़ के शासक समुद्र की राजप्रशस्ति (वि.सं. 1976) के अनुसार भी राजा कर्ण केपुत्र माहप ने डूंगरिया भील की हत्या कर डूंगरपुर राज्य की स्थापना की। वागड़ के शासक आसकरण ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और यह प्रदेश मुगल साम्राज्य के अधीन हो गया। कालान्तर में वागड़ के महारावल उदयसिंह ने अपने पुत्रों में वागड़ राज्य का विभाजन कर डूंगरपुर पृथ्वीराज को तथा बांसवाड़ा जगमाल को सौंप दिया। इसके उपरान्त भी इन दोनों राज्यों में संघर्ष होते रहे। आक्रान्ताओं से अपने प्रदेश की रक्षा करने के लिए यहाँ के निवासी वीरतापूर्ण संघर्ष करते रहे। विक्रम संवत् 1675 के नागावाड़ा के शिलालेख तथा अनेक सती स्तम्भों से विदित होता है कि मुगल सेना के विरुद्ध संघर्ष करते हुए केशवदास अपने 15 साथियों के साथ मारा गया और उस संघर्ष में वहाँ की विभिन्न जातियों के लोग शामिल थे।[1]

ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप

अंग्रेजों के बढ़ते प्रभाव व हस्तक्षेप से वहाँ के सामन्त तथा आदिवासी भील असंतुष्ट हो गए। जब महारावल जसवन्तसिंह विद्रोही सामन्तों व उपद्रवीं भीलों को नियंत्रन कर सका तो 1825 ई. में ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप किया। महारावल को अयोग्य करार देकर उसे राज्य प्रशासन के कार्य से वंचित कर दिया और राज्य में शासन व्यवस्था के लिए अपने विश्वासपात्र पदाधिकारियों की नियुक्तियां कर दीं। अंग्रेजी सरकार अपनी इच्छानुसार मनमाने ढंग से डूंगरपुर का उत्तराधिकारी नियुक्त करती रही। महारावल जसवन्तसिंह को सिंहासन से हटा कर 1845 ई. में वृन्दावन भेज दिया जहाँ कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गयी। डूंगरपुर रियासत में अंग्रेजी शासन का यह हस्तक्षेप सर्वथा अवांछनीय एवं निन्दनीय था। प्रसिद्ध इतिहासकार

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए कहा है, 'डूंगरपुर राज्य के मामले में ब्रिटिश अधिकारियों ने मनमाने ढंग से हस्तक्षेप कर महारावल जसवन्तसिंह को सिंहासन से हटाया और भौंडे व नाटकीय तौर पर परमोच्चसत्ता का प्रदर्शन किया।' डूंगरपुर के प्रशासन का दायित्व प्रतापगढ़ के महारावल को सौंप दिया गया। 1852 ई. में अंग्रेजों ने अपने मनचाहे व्यक्ति मुंशी सफदर हुसैन को प्रशासन का सर्वेसर्वा बनाकर डूंगरपुर पर पूर्ण प्रभुत्व कायम कर लिया।[2]

1857 के स्वाधीनता संघर्ष की वागड़ क्षेत्र में गूंज

डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा, दोनों राज्यों में ही ब्रिटिश प्रभुत्व के परिणामस्वरूप जो नई शासन व्यवस्था स्थापित हुई, उसके अन्तर्गत चुंगी, विभिन्न प्रकार के कर तथा वन उद्योग पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए जिससे इस क्षेत्र की जनता असंतुष्ट हो गई। चुंगी एवं कर लगाए जाने से व्यापारी वर्ग रुष्ट हो गया, क्योंकि वे स्वतंत्र व्यापार के पक्षधर थे। वन उद्योग पर राजकीय प्रतिबन्ध एवं पुलिस नियंत्रण से वागड़ क्षेत्र की जनजातियां कुपित हो गयीं, क्योंकि वन सम्पदा को वनवासी भील लोग अपनी व्यक्तिगत संपत्ति समझते थे और यही उनके जीवननिर्वाह का एकमात्र साधन था। भीलों के संचरण एवं कार्यों पर लगाए गए विभिन्न प्रतिबन्ध वनपुत्र भीलों के नैसर्गिक स्वातन्थ्य–प्रेम के प्रतिकूल थे। जनजाति के लोग इनको अपने परम्परागत अधिकारों पर कुठाराघात समझते थे।[3]

1857 की क्रान्ति में बांसवाड़ा में सादतखां की शहादत

वागड़ क्षेत्र के शासक तो 1857 की क्रान्ति में पूर्णतः अंग्रेजों के पक्ष में थे किन्तु व्यापारी वर्ग, प्रबुद्धवर्ग, आदिवासी भील तथा कुछ सामन्त मन से अंग्रेजों की सत्ता के विरुद्ध थे। इस क्रान्ति के समय बांसवाड़ा के ठाकुर रतनसिंह की सेवा में सादत खां नामक व्यक्ति था जो सरकारी सेवा में रहते हुए भी स्थानीय जनता एवं सैनिकों में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की भावना जगा रहा था। वह 1857 की क्रान्ति के प्रति समर्पित था और उसने इससे पूर्व आगरा, अलवर तथा मध्यप्रदेश में अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति का संदेश फैलाया था। जब गुप्तचरों के माध्यम से सरकार को उसकी ब्रिटिश–विरोधी गतिविधियों का पता चला तो उसे गिरतार कर फांसी दे दी गई। सादत खां की शहादत ने वागड़ की जनता में राजनैतिक चेतना जगाई जो भविष्य में स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रेरक बनी।[4]

तांत्या टोपे का बांसवाड़ा पर अभियान

1857 की क्रान्ति का वीर सेनानी तांत्या टोपे बांसवाड़ा के महारावल लक्ष्मणसिंह तथा वहाँ की जनता से सहायता मिलने की आशा में दो बार बांसवाड़ा आया। तांत्या

टोपे का बांसवाड़ा आगमन 1857 की क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण घटना थी जिसने सुदूर राजस्थान में 1857 की क्रान्ति की ज्वाला को प्रज्जवलित रखा। जब तांत्या टोपे दिसम्बर, 1858 में बांसवाड़ा में प्रविष्ट हुआ, अनेक भील उसकी सेना में शामिल हो गए। फरवरी 1859 ई. में तांत्या टोपे पुनः बांसवाड़ा की ओर आया। किन्तु कप्तान शावर्स की अंग्रेजी सेना ने जब उसका पीछा किया तो वह पेरोन के जंगल की ओर चला गया। तांत्या टोपे को उसके बांसवाड़ा अभियान में निश्चय ही जनता का भारी सहयोग मिला और इसी कारण अंग्रेजी सेना उसे इस क्षेत्र में पकड़ नहीं पाई।[5]

लोकहित की उपेक्षा – स्वेच्छाचारी राजतंत्र में प्रजाहित के लिए कोई स्थान नहीं था। रियासत की संपूर्ण आय पर राजा अपना निजी अधिकार मानता था और वह उसका अधिकांश भाग शिकार, मनोरंजन तथा अपने अंग्रेज आकाओं के आतिथ्य–सत्कार पर व्यय करता था। प्रजा की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि लोकहित के कार्यों पर नाममात्र का खर्च किया जाता था। यही नहीं, राजाओं की भावी पीढ़ी को भी ब्रिटिश सरकार ने अजमेर के मेयो कॉलेज में प्रशिक्षण देकर प्रजा के हित एवं देश की सांस्तिक चेतना से सर्वथा विमुख कर दिया था।[6]

वित्त राजस्व एवं न्याय व्यवस्था – भू राजस्व वसूलने का भी न्यायोचित ढंग नहीं था। खेत में खड़ी फसल का मनमाने ढंग से अनुमान करके अनुमानित पैदावार के अनुसार लगान की रकम तय कर दी जाती थी। फसल का कूंत करते समय किसान के हित की अनदेखी की जाती थी। रियासत में पुलिस एवं न्याय की भी बहुत बुरी व्यवस्था थी। चाहे जिसको राजा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर देता था। उस व्यक्ति को विधिशास्त्र का ज्ञान या अनुभव है या नहीं, इस बात की कोई परवाह नहीं की जाती थी। न्यायालयों में रिश्वत का बोलबाला था। गरीब व्यक्ति को न्याय मिलने की बहुत कम संभावना थी।

जागीरों की स्थिति – प्रशासन की .ष्टि से जागीरों की स्थिति और भी भयावह थी। जागीरों में जागीरदारों की हुकूमत होती थी। जागीर का प्रबन्ध कामदार नामक अधिकारी पर छोड़कर जागीरदार ऐश–आराम व भोग–विलास में डूबे रहते थे। प्रत्येक जागीरदार के पास बहुत सी दासियां होती थीं। जागीरदारों को दीवानी और फौज. दारी, दोनों प्रकार के अधिकार मिले हुए होते थे और उनका खूब दुरुपयोग किया जाता था। लोगों पर झूठे मुकदमे चलाना, किसी को भी मारना–पीटना तथा जागीर से निष्कासित करना जागीरदारों के लिए सामान्य बात थी।

जागीरों में किसानों की दुर्दशा एवं शोषण – जागीरों में किसानों की दशा बहुत ही दयनीय थी। अधिकांश जागीरों में भूमि–बन्दोबस्त लागू नहीं था। भूमि को मापने तथा भूमि का लगान तय करने की कोई निर्धारित प्रक्रिया नहीं थी। खड़ी फसल का

जो जागीरदार मनमाने ढंग से कूंत (अनुमान) करके उस पैदावार पर लगान निर्धारित कर देता था। किसान से लगभग आधी पैदावार उस कूंत के माध्यम से लगान के रूप में ले ली जाती थी। समय पर लगान अदा न करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। लगान के अलावा अनेक प्रकार की लाग–बाग भी किसानों से ली जाती थी। इन लाग–बागों का भुगतान किसान के लिए लगान से भी ज्यादा पीड़ादायक था। इन लाग–बागों की कोई सीमा नहीं थी और जागीरदार मनमाने ढंग से इनका क्षेत्र बढ़ाते रहते थे। किसान को .षि भूमि पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। लगान या लाग–बाग के भुगतान में विलम्ब होने पर अथवा जागीरदार के नाराज होने पर किसान को खेत से तुरन्त बेदखल कर दिया जाता था और इस सम्बन्ध में कहीं कोई सुनवाई नहीं थी।

अमानवीय बेगार प्रथा – जनता से बेगार भी ली जाती थी और बेगार करने में आनाकानी करने पर भयंकर यातना दी जाती थी। बेगार में व्यक्ति को अपनी गांठ की रोटी खाकर जागीरदारों, कामदारों, सरकारी कर्मचारियों आदि के निजी सामान को सिर पर रखकर मीलों तक चलना पड़ता था। बैलगाडियों को भी बेगार में माल ढ़ोने के लिए पकड़ लिया जाता था। बेगार प्रथा निस्संदेह मानवाधिकारों पर कुठाराघात थी, किन्तु उसके विरुद्ध कहीं भी कोई सुनवाई नहीं थी। जागीरदारों को रियासत के शासक का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था और जनता उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती थी।

साहूकार द्वारा शोषण – महाजन या साहूकार भी किसानों के अज्ञान का लाभ उठाकर उनका खूब शोषण करते थे। लगान व लाग–बाग के भुगतान में किसान की लगभग सारी पैदावार चली जाती थी और इतना अनाज भी नहीं बचता था कि वह भरपेट रोटी खा सके। अतः उसे जीवन निर्वाह के लिए साहूकार से ऋण लेना पड़ता था।[7]

नागरिक अधिकारों एवं न्याय का अभाव – रियासत एवं जागीरों में जनता को किसी प्रकार के भी नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। जनता को संगठन बनाने, सभाएं करने व जुलूस निकालने की आजादी बिल्कुल नहीं थी। समाचार पत्र पढने़ वालों को संदेह की .ष्टि से देखा जाता था। प्रचलित राज्यव्यस्था के या जागीरी व्यवस्था के विरुद्ध यदि कोई जरा भी मुंह खोलता तो उसे कुचल दिया जाता था। सार्वजनिक सुरक्षा कानून के तहत चाहे जिसको गिरतार कर लिया जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी एवं बीसवीं शतब्दी के प्रारम्भिक दशक तक वागड़ क्षेत्र में राजनैतिक चेतना का पूर्णतः अभाव था। राजनीतिक .ष्टि से यह युग अत्यन्त निराशा

का था, क्योंकि सार्वजनिक जीवन का निर्माण ही नहीं हो पाया था। ऐसी स्थिति में नागरिक अधिकारों, शासन सुधारों तथा विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रताओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जनता राजनैतिक अधिकारों तथा राजनीतिक जीवन के बारे में पूर्णतः अनभिज्ञ थी। राजनैतिक संस्थाओं का अस्तित्व नहीं था। जनमत निर्माण में सहायक समाचार पत्रों का अभाव था। प्रेस की स्वतंत्रता का तो प्रश्न ही नहीं उठता, समाचार पत्र प्रकाशित ही नहीं होते थे। प्रेस पर कठोर नियंत्रण था और ब्रिटिश भारत में प्रकाशित समाचार पत्रों का भी रियासत में प्रवेश निषिद्ध था।[8]

जनता समाज एवं धर्म के क्षेत्र में रूढियों, कुप्रथाओं एवं अन्धविश्वासों में जकड़ी हुई थी। वस्तुतः सामाजिक बुराइयाँ एवं कुप्रथाएँ यथा मद्यपान, कन्या विक्रय, दापा व सागड़ी आदि वागड़ क्षेत्र में अधिक .ढ़ता से छाई हुई थी, क्योंकि वहाँ अज्ञान एवं अशिक्षा अधिक थी। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश भारत में हुए पुनर्जागरण के फलस्वरूप वहाँ सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में नवचेतना उत्पन्न हुई, किन्तु उस जागृति से रियासत की जनता पूर्णतः अप्रभावित रही। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती राजस्थान में कई बार आए और उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के लिए जनता का आह्वान किया।

भीलों में राजनैतिक चेतना – राजस्थान के इतिहास में भीलों की उपस्थिति प्राचीनकाल से रही है। राजपूतों के आने के पूर्व दक्षिण एवं दक्षिण–पूर्वी राजस्थान का बहुत बड़ा भू–भाग भीलों के नियंत्रण में था। डॉ. दशरथ शर्मा आहड़ संस्ति के विकास में भीलों के योगदान का उल्लेख करते हैं।[9] आहड़ संस्ति को सिन्धु घाटी सभ्यता के समकालीन माना गया है। पूर्व मध्यकालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्त्रोतों में (701ई.–1200 ई.) भीलों का भारी उल्लेख हुआ है। यह वह समय था जब राजस्थान के नाम से जाना जानेवाले भू–भाग में राजपूतों का प्रवेश हुआ व उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए।

प्राचीन कालीन भारतीय इतिहास में आदिवासियों को म्लेछ शब्द से सम्बोधित किया जाता था। म्लेच्छ का तात्पर्य जाति के बाहर लोगों से है। डॉ. दशरथ शर्मा ने जैन स्रोतों के आधार पर इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आदिवासियों का अपना सामाजिक–सांस्तिक संगठन था एवं उनका रहन–सहन का तरीका आर्यों से भिन्न था।[10]

भील राजपूत संघर्ष कई सदियों तक चला किन्तु भील–राजपूत सहयोग के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। आदिवासी मुखिया की सहायता से लक्ष्मण चौहान ने नाड़ौल में अपनी सत्ता स्थापित की।[11] लक्ष्मण चौहान के पूर्व नाडौल का क्षेत्र

चावड़ा वंश के राजपूतों के नियंत्रण में था एवं इसका अन्तिम शासक सामन्तसिंह था। 960 ई. में समान्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् लक्ष्मण चौहान ने नाडौल में अपनी सत्ता स्थापित की।

राजपूत व भीलों के मध्य संघर्ष की स्थिति 16वीं सदी के अंत तक बनी रही किन्तु जहाँ राजपूत सत्ता सबसे पहले स्थापित हुयी वहाँ राजपूत–भील सहयोग भी आरम्भ हुआ। राजपूत–मुगल संघर्ष के दौरान भीलों ने राजपूतों का साथ दिया। मुगल बादशाह अकबर के विरुद्ध महाराणा प्रताप के संघर्ष में भीलों ने सक्रियता से महाराणा प्रताप की सहायता की। 21 जून 1576 ई. को हल्दीघाटी के युद्ध में भील योद्धा कुंजा जिसे भीलू राजा के नाम से भी जाना जाता है ने अपने अनुयायियों के साथमुगल सेना से बहादुरी पूर्वक युद्ध किया। हल्दी घाटी की पराजय के बाद महाराण ा प्रताप ने चावन्ड एवं जावर की पहाडियों में शरण ली जहाँ भीलोंने उसे हर सम्भव सहायता व सहयोग प्रदान किया। इस सेवा के बदले भीलों को मेवाड़ के राजचिह्न में विशेष महत्त्व दिया गया। मेवाड़ के राजचिह्न में बीचों बीच सूर्य एवं एकलिंग जी का चित्र है जिसके एक ओर महाराणा प्रताप को खडग़ धारण किये हुये चित्रित किया गया है वहीं दूसरी ओर तीर–कमान धारण किये भील का चित्र है। वह राजपूत व भीलों के सहयोग के प्रतीक के रूप में अच्छी शुरूआत रही।

मुगल काल के दौरान राजस्थान में भील उच्च सामाजिक स्तर का उपयोग कर रहे थे। यहाँ एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि राजपूत–भील सहयोग राजपूतों की आवश्यकता का परिणाम था। भीलों ने मुगल सेनाओं से समय–समय पर मुकाबला किया एवं उनकी सेनाओं में घबराहट पैदा की इसलिये मुगल भी भील क्षेत्रों में नहीं घुस सके। अकबर के दरबारी लेखक अबुल फजल ने आइने अकबरी में भीलों को नियमों का पालन करनेवाला एवं मेहनती अथवा अध्यवसायी चित्रित किया है।[12]

मराठों की राजस्थान में घुसपैठ ने पुनः भीलों को संघर्ष के लिये मजबूर किया। जब मुगल साम्राज्य पतन के कगार पर था तो राजनीतिक रिक्तता का लाभ उठाते हुये मराठों ने राजस्थान पर आक्रमणों और अभियानों की शृंखला आरम्भ की। इन अभियानों का उद्देश्य उत्तरी भारत में मराठा वर्चस्व का विस्तार करना था। मराठों ने प्रथम बार 1724 ई. में मेवाड़ पर चढ़ाई की। उसके पश्चात् 1728–29 ई. के दौरान डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा मराठा आक्रमण के शिकार हुये। 1736 ई. के बाद यह मराठों की एक नियमित गतिविधि बन गयी जब दक्षिणी राजस्थान के राज्यों से चौथ वसूली हेतु प्रतिवर्ष अभियान चलने लगे। 1761–69 ई. के दौरान मेवाड़ के उत्तराधिकार युद्ध में मराठा सरदार सिन्धिया ने दोनों दावेदारों से भारी रकत ऐंठी। इसके पश्चात् भी मराठा मेवाड़ को लगातार रौंदते रहे। इस दौरान भीलों ने महाराणा मेवाड़ का

समर्थन किया एवं वे उसके प्रति वफादार रहे।[13]

मराठों के पश्चात् राजस्थान के शासकों ने ब्रिटिश अधीनता स्वीकार कर ली। 1818 ई. में अधिकांश राजपूत राज्यों एवं विशेषकर दक्षिण राजसथान के सभी राज्यों ने अंग्रेजों के साथ सन्धि कर ली। देशी सामन्तवाद एवं अंग्रेजी उपनिवेशवाद के मध्य हुयी इन सन्धियों को अपवित्र गठबंधन कहा जाये तो अधिक उपयुक्त है। अंग्रेजों ने देशी राज्यों के माध्यम से भीलों पर कठोर राजनीतिक व प्रशासनिक नियंत्रण के प्रयास किये जिसके परिणामस्वरूप 1818 ई. में ही ब्रिटिश सत्ता व उसके सहयोगी राजा व जागीरदारों के विरुद्ध भीलों ने विद्रोह आरम्भ कर दिये।[14] ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना से राजस्थान में अराजकता एवं राजनैतिक अस्थिरता की तो समाप्ति हुई, किन्तु विदेशी सत्ता द्वारा प्रदान की गई इस सुरक्षा ने राजाओं को पूर्णतः निरंकुश एवं अत्याचारी बना दिया। अंग्रेज प्रभुओं से प्राप्त अभयदान ने उन्हें अपनी प्रजा पर कहर ढाने की खुली छूट दे दी। इस युग में राजस्थान में सामन्त व्यवस्था प्रजाप. ीडऩ, क्रूरता व मानवीय अधरूपतन की पराकाष्ठा तक पहुँच गयी। प्रजा राजाओं तथा उनके जागीरदारों की भक्ष्य बन गयी। ब्रिटिश प्रभुत्व राजस्थान के लिए और विशेषतः बागड़ क्षेत्र के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ, क्योंकि उसके द्वारा प्रदत्त संरक्षण ने राजाओं एवं सामन्तों को निर्दय, विलासी, क्रूर एवं अत्याचारी बना दिया। प्रजा के सुख–दुःख से सर्वथा उदासीन राजाओंव जागीरदारों ने प्रजा को इतनी बेरहमी से कुचला कि सारे मानवीय मूल्य एवं संवेदनाएँ तिरोहित हो गयी।

प्रारम्भिक विद्रोह – 1858 ई. में ज्योंही सत्ता ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश सरकार के हाथों में आई, ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों में अनेक कानून एवं सुधार लागू किए गए। इन सुधारों ने भीलों के परम्परागत अधिकारों को समाप्त कर दिया। वन सम्पदा को बिना किसी रोक–टोक के उपभोग करने के भीलों के परम्परागत अधिकारों पर भी रोक लगा दी गयी। भील समुदाय में असन्तोष फैलाने के निम्नलिखित कारण थे–

1. बिना भूराजस्व दिए खेती करने व वन उत्पाद (शहद, गोंद, लकड़ी आदि) संचित करने के परम्परागत भीलों के अधिकारों को सरकार ने समाप्त कर दिया।
2. प्रशासनिक सुधारों के नाम पर भीलों पर अनेक कर लगा दिए गए। तम्बाकू, नमक एवं अफीम पर नये कर लगाए गए। भील क्षेत्र में सीमा शुल्क चौकियाँ स्थापित की गई जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की मूल्यवृद्धि हुई। भीलों के मंदिर बनाने पर रोक लगा दी गई।
3. सामाजिक सुधार लागू करने के प्रयत्नों से भी भील भड़क उठे। भील समाज

में डाकिन प्रथा प्रचलित थी। किसी महिला पर डाकिन होने का शक होने पर उसे यातनाएँ देकर मार डाला जाता था। जब अंग्रेजों ने रियासती प्रशासन पर इस अमानवीय प्रथा को बन्द करने के लिए दबाव डाला। इससे भील समुदाय क्षुब्ध हो गया, क्योंकि उन्होंने उसे अपने धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप माना।

4. रियासती प्रशसन के अधिकारी भीलों के साथ क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार करते थे और बलपूर्वक रुपया लेते थे। अन्याय एवं अत्याचार इस हद तक बढ़ गया था कि राजकीय कर चुकाने के लिए कभी–कभी भीलों को अपने बच्चों तक को बेचना पड़ जाता था।

5. भोले–भाले भील जन सूदखोर बनियों के शिकंजे में फंसकर बरबाद हो जाते थे। ऐसी स्थिति में भील असन्तोष स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों से वागड़ प्रदेश के भील समुदाय में अंग्रेजों तथा रियासती शासन के प्रति आक्रोश बढ़ता जा रहा था। भीलों के परम्परागत अधिकारों पर जब शासन द्वारा रोक लगा दी गई तो वे विद्रोह, डाकाजनी व लूटपाट पर उतारु हो गए। इस स्थिति में डूंगरपुर के महारावल उदयसिंह ने भीलों का दमन करने के लिए अपनी सेना भेजी पर वह सफल नहीं हुई। अतः महारावल ने भीलों को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार से सहायता मांगी। ब्रिटिश सेना की सहायता से विद्रोही भीलों को रियासत के साथ 1867 ई. में इकरारनामा करने के लिए बाध्य किया गया। इकरारनामे द्वारा भीलों को लूट–खसोट न करने, विद्रोहियों को शरण न देने, अंग्रेजी सरकार की आज्ञा मानने तथा डूंगरपुर दरबार को वार्षिक खिराज देने का वदा करना पड़ा। इसी प्रकार के एक–दूसरे इकरारनामे पर डामर, नाथा आदि 22 भीलों के मुखियाओं के हस्ताक्षर करवाये गए। सिमलवाड़ा, देवल तथा खौदू के भीलों ने भी इकरारनामे पर हस्ताक्षर कर दिए। इस प्रकार भीलों को सैनिक बल से दबा तो दिया गया, किन्तु उनका असन्तोष दूर नहीं हुआ।[15]

भीलों से राज्य बराड़ नामक कर वसूल करता था, किन्तु उस बराड की वस. ूली का तरीका बहुत ही अन्यायपूर्ण था और राज्यकर्मचारी इसकी वसूली के समय भीलों पर काफी अत्याचार करते थे। रियासत की ओर से प्रतिवर्ष बराड़ की वसूली के लिए सिन्धी व मकरानी सिपाही भेजे जाते थे जो भीलों पर बड़ी ज्यादती करते थे। रघुनाथसिंह ने भीलों के मुखिया लाडूडा तथा मरवे से वार्तालाप शुरू किया, किन्तु बातचीत के दौर में आवेश में आकर दोनों भील मुखियाओं को मरवा डाला। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भील विद्रोह और भी व्यापक एवं उग्र हो गया तथा रियासती सेना उसे नहीं दबा सकी। तब महारावल ने मेवाड भीलकौर की सहायता लेकर भील विद्रोह को दबाया। भीलों के अनेक मुखियाओं को कैद कर लिया गया और उन्हें कठोर दण्ड

दिया गया। किन्तु साथ ही भील असन्तोष को दूर करने के लिए उनकी मांग पर विलायती बेड़े के 187 अत्याचारी सिपाहियों को रियासत से निकाल दिया गया और तब भीलों ने अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया।[16]

1905 ई. में बंग–भंग एवं स्वदेशी आन्दोलन के बाद राजनैतिक चेतना– 1905 ई. में जब लार्ड कर्जन ने साम्प्रदायिक आधार पर बंगाल का विभाजन किया तो सम्पूर्ण भारत में उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और जनाक्रोश प्रबल स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से फूट पड़ा। स्वदेशी आन्दोलन को गति प्रदान की। इसी समय गोविन्द गुरु द्वारा पूर्व में प्रवर्तित स्वदेशी आन्दोलन को गति प्रदान की।

उन्नसवीं शताब्दी के भीलों के आन्दोलनों को जो अधिकार के महत्व को लेकर थे, शक्ति और समझौतों से दबा दिया गया, परन्तु भीलों का संताप का पूरा निराकरण नहीं होने पाया। वैसे तो भील संगठित थे परन्तु अच्छे नेतृत्व के अभाव के कारण आन्दोलन में गति उत्पन्न नही होने पाई, गोया इनमें जोश और परम्परा के प्रति ममता अवश्य बनी रही।

डूंगरपुर में भील उपद्रव – डूंगरपुर का क्षेत्र भील जाति के बाहुल्य से भरा है। इनमें स्वाभिमान और विदेशी सत्ता से विद्वेष स्वभावतः था उनके परम्परागत अधिकारों पर जब अंग्रेजी शासन से हस्तक्षेप होने लगा तो विद्रोह, डाकाजनी, लूटपाट आदि पर उतारु हो गये। महाराजा जसवन्तसिंह ने उनके दबाने के लिए अपनी सेना भेजी पर उसे सफलता नहीं मिली। विवश होकर उसे अंग्रेज सरकार से सहायता मांगनी पड़ी। 1825 में सैनिक दबाव से भीलों के साथ लूट खसौट न करने, विद्रोहियों को शरण न देने, कम्पनी की आज्ञा मानना, डूंगरपुर दरबार को वार्षिक खिराज देने का इकरारनामा कराया गया। इसी प्रकार एक दूसरे इकरारनामे पर डामर, नाथ आदि 22 भीलों के मुखियों के हस्ताक्षर हुए। सेमलवाड़ा, देवल और नांदू के भीलों ने भी इकरारनामे पर दस्तख्त किये।[17]

रियासती प्रशासन द्वारा आन्दोलन का दमन – रियासती शासन भी प्रजामण्डल के आन्दोलन का दमन करने के लिए कटिबद्ध था। उसने कटारा क्षेत्र को अशान्त घोषित कर दिया और आन्दोलन को दबाने के लिए सेना भी भेज दी। आन्दोलन प्रारम्भ होते ही कटारा के प्रमुख प्रजामण्डल नेता श्री देवराम शर्मा को गिरतार कर डूंगरपुर जेल में बन्द कर दिया गया।[18] सरकारी कर्मचारी गरीब किसानों और भीलों से बेगार और घूंस लेकर उन्हें सताते रहते थे। बेगार से ले जाये जाने वाले सारे सरकारी सामान के बण्डल जहाँ के तहाँ पड़े रह गये। राज्यकार्य का संचालन ठप्प हो गया। राज्य कर्मचारी भी किसानों व भीलों की इस जागृति से खिन्न व जनविरोधी हो गए।

राजस्थान में मीणा जनजाति का इतिहास तो पुराना है, किन्तु व्यवस्थित इतिहास न मिलने के कारण इनकी पूर्ण जानकारी नहीं है। मीणों की अपनी कोई सम्पुष्ट लिखित परम्परा नहीं रही है, जिससे लिखित ऐतिहासिक साक्ष्यों का अभाव है। मत्स्य जनपद को मीणों की उद्‌गम भूमि माना गया है। वहाँ से इनका विस्तार सम्पूर्ण राजस्थान में हुआ है। भीलों की तरह मीणा आदिवासी समुदाय सातवीं से बारहवीं सदी के दौरान राजपूत आक्रमणों का शिकार रहे हैं। पूर्वी राजस्थान में इनके छोटे–छोटे आदिवासी राज्य होने का उल्लेख भी मिलता है। ऐसा विवरण मिलता है कि ढूँढार क्षेत्र में मीणा शक्ति का दमन कर कछवाहा राजवंश ने अपनी सत्ता स्थापित की। इसे आमेर व जयपुर राजघराने के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार गौढ़वार पाली, जालौर, नागौर, मण्डोर, भद्राजून में भी मीणा आदिवासियों के मुखियाओं के राज्य अथवा स्वायत्तशासी जनजातीय संगठन थे जिन्हें हराकर राजपूतों ने अपने राज्यों में सम्मिलित किया।

इस प्रकार भील व मीणों की तरह ही गरासिया व अन्य जनजातियों में भी राजनैतिक चेतना का प्रसार हुआ व उन्होंने भी ब्रिटिश शासन का विरोध किया। इन जनजातियों में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का कारण अंग्रेजों का इन जनजातियों को सताना था। ब्रिटिश इन लोगों में मनमानी करने लगे उन्होंने इन जनजातियों पर विभिन्न प्रकार की लाग–बाग व कर लगा दिए। जिसके फलस्वरूप इन जनजातियों में अंग्रेजों के शासन के विरूद्ध भावनाएँ जागृत हो गयी।

संदर्भ

1. राजपूताना म्यूजियम 1913 व 1916 ई. की रिपोर्ट, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 14–19, ओझा, बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 13–14
2. एचीसन., पूर्वोक्त, जिल. 3, पृ. 472–75, खडगावत, राजस्थानस्ड्ड रोल इन द स्ट्रगल ऑफ, 1857, पृ. 88
3. अर्सकिन, गजट, बांसवाड़ा, पृ. 164, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 162
4. शावर्स, ए मिसिंग चौप्टर ऑफ इण्डियन म्यूटिनी, पृ. 138, अर्सेकिन, बाँसवाड़ा गजट, पृ. 164
5. शावर्स, पूर्वोक्त, पृ. 138, 142–144, अर्सेकिन, बांसवाड़ा गजट, पृ. 164, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 170–171
6. उत्सवलाल शर्मा, संपादक, श्री भोगलीलाल पंड्ड्या स्मृति ग्रन्थ, पृ. 84–85
7. वही, पृ. 87–92
8. सुमनेश जोशी, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, पृ. 341–43

डॉ. रामदत्त पाराशर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

वेदों में योग–निरूपण

सर्व धर्म–कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदों द्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं, यहाँ तक कि भविष्य में होने वाले ज्ञान–विज्ञान तथा कला साहित्य आदि का भी वेदों में उत्स प्राप्त है –

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।'

यहाँ संक्षेप में योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रों का निर्देश किया जा रहा है।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।

स धीनां योगमिन्वति।।

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवता के बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानी का जीवन–यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसी में ज्ञानियों को अपनी बुद्धियों और कर्मों का योग करना चाहिए, उसी देव में उन्हें अपनी बुद्धियों और कर्मों को अनन्य रूप से एकाग्र करना चाहिए। उनकी बुद्धि उस देव के साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मों में भी ओतप्रोत हो जाता है। अपनी सभी क्रियाओं और चेष्टाओं में भी उनका चित उसके साथ जुड़ा रहता है।

योग के इस प्रधान लक्षण का प्रतिपादन यजुर्वेद के 11वें अध्याय के प्रथम पांच मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दों में किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं –

युंजानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।

अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्।।

सबको उत्पन्न करने वाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धि की वृत्तियों को तत्त्व की प्राप्ति के लिए अपने दिव्य स्वरूप में लगाये और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं की जो विषयों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य है, उसे दृष्टि में रखते हुए बाह्य विषयों से लौटाकर हमारी इन्द्रियों में स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियों का प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मन की स्थिरता में सहायक हो।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राजयोग की प्राणायाम–प्रणाली से होने वाले शक्ति के आरोहण का वर्णन प्रतीकात्मक भाषा में किया गया है–

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।।

इस मन्त्र में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमशः अन्न, प्राण और मन की भूमिकाओं के प्रतीक हैं और स्वर्ज्योति मन से परे स्थित, वाङ्मनस–अगोचर विज्ञानमय भूमिका का प्रतीक है। प्राणायाम से सिद्धि प्राप्त साधक कहता है कि मैंने पृथ्वी के तल से अन्तरिक्ष में आरोहण किया, अन्तरिक्ष से द्युलोक में और आनन्दमय द्युलोक के स्तर से आरोहण करके मैं स्वर्लोक के ज्योतिर्मय धाम में पहुँच गया। पातंजल योगदर्शन के अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और कैवल्य भूमिकाएँ कहलाती हैं।

वैदिक योगसाधना का ध्येय है आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य। उसके लिये साधक की अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्र में सुन्दर ढंग से व्यक्त की गयी है–

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः।।

'अर्थात् हे अग्निदेव! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धि सम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो मेरे लिये तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रों के आधार पर योग–सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व संक्षेप में निर्दिष्ट किये गये हैं।

यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी अपना मन एकाग्र रूप से किसी में लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृंगी (भ्रमर) एक कीड़े को ले जाकर दीवार में अपने रहने के स्थान में बंद कर देता है और वह कीड़ा भय से उसी का चिन्तन करते–करते अपने पहले शरीर का त्याग किये बिना ही उसी चिन्तन किये गये रूप को प्राप्त कर लेता है – तद्रूप हो जाता है।'

धन्य हैं वे, जो इस प्रकार की अनन्य एकाग्रता का आश्रय कर भगवान् के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मनुस्मृति 12.97
2. ऋग्वेद 1.18.7
3. यजुर्वेद 11.1
4. अथर्ववेद 4.14.3
5. ऋग्वेद 8.44.23

प्रो. किरन सरना (शोध निर्देशिका)
पारूल बापलावत (शोध छात्रा)
कला संकाय
वनस्थली विद्यापीठ, (राज.)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

लालचन्द मारोठिया के रेखांकनों में सौन्दर्य बोध

रेखा का जन्म संवादों के प्रवाह से भी पहले हुआ है। चित्रण की प्रथम पाठशाला रेखाएँ ही रही है। आदि मानव द्वारा पत्थर पर खींची गई अस्त–व्यस्त किन्तु सौन्दर्यपूर्ण रेखाएँ ही उसकी कलात्मकता का परिचय देती प्रतीत होती है। ''रेखा भावों की वह दिव्य शक्ति है जो मूक चित्र में चित्रित आकृतियों को हँसा सकती है, स्तम्भित कर सकती है, मौन कर सकती है तथा स्थिर व भयभीत भी कर सकती है। रेखा की संभावनाएँ अनन्त एवं अपार है। वह स्थिति एवं गति दोनों का सृजन कर सकती है। भावों को प्रकट करने का कार्य रेखाओं द्वारा ही होता है।'' अर्थात् रेखाएँ भावों का मूक संवाद करने में सक्षम होती है। कलाकार के भ. ावों का सहज प्रकटीकरण रेखा के द्वारा ही होता है। रेखा एक कलाकार के भावों का सफल सम्प्रेषण है। ''एक चित्रकार की कलाकृति का प्रधान तत्व रेखा है, रेखा की सहायता से ही चित्रकार अपने अन्तर्भाव को बाहरी रूप प्रदान करता है।'' इसी क्रम में राजस्थान के प्रकृति कलाकार लालचन्द मारोठिया के रेखांकन हमें प्रकृति के समीप लेकर जाते हैं। यथार्थ व कल्पना के बिम्बों से निर्मित आपके रेखांकनों में हमें पेड़–पौधे, जीव–जन्तुओं तथा प्रकृति के प्रत्येक अवयव में गहरा मैत्री भाव दिखाई देता है। रेखाओं में घुमाव व संतुलित गति का आभास व नवीन आकारों की खोज है। काली स्याही व इंक पैन द्वारा जीव–जन्तुओं की उलझी हुई शाखाएँ समसामयिक जीवन के उलझावों को दिखाने का प्रयास करती है। ''मारोठिया के स्याह सफेद रेखाचित्रों में निराशा, स्त्रियों की स्थिति और विवशता, तांत्रिक जाल, सूरज और अंधेरा, जीवन–संघर्ष, वृक्ष, आदमी और मशीन, आतंकवाद आदि रेखांकनों के द्व ारा सधी हुई रेखाओं के माध्यम से विविध प्रतीकों का उपयोग करते हुए मारोठिया के रेखांकनों में सरल और सहज ढंग से जीवन के उन सभी पहलुओं को सशक्त अभिव्यक्ति दी गयी है।'' लालचन्द मारोठिया ने अपने रेखाचित्रों के माध्यम से समाज में नारी की वास्तविक स्थिति को अपने रेखाचित्रों में परिभाषित किया है। पानी में तैरती मछली तथा उसका महिला का चेहरा पेड़ पौधों की जड़ों से बँधी मछली की आकृति अपने भीतर गहरे मर्म को छिपाये हुए हैं। मारोठिया बताते हैं कि इस

कृति के माध्यम से उन्होंने आज की नारी की वास्तविक दशा का चित्रण है। आज की महिलाओं को बराबरी का दर्जा देने वाला समाज ही उनके शोषण को उतावला रहता है। मारोठिया ने स्पष्ट किया है कि महिलाएँ पंच–सरपंच, प्रधान तो बन जाती है किन्तु प्रशासन का सारा काम उनके पति अथवा घर के अन्य पुरूष ही संभालते हैं।'' ''पेन एवं स्याही से निर्मित पेड़ तथा पत्तों से पल्लवित पेड़ों की श्रृंखलाएँ पुरूष सत्तात्मक समाज में नारी स्वतंत्रता के खोखलेपन को उजागर कर रही है। मारोठिया ने मछली की आकृति को जिस प्रकार स्वतंत्र होते हुए भी मर्यादाओं की सीमाओं में जकड़ा हुआ दिखाया है। वह अतुलनीय है।'' (रेखाचित्र संख्या 1)

(रेखाचित्र संख्या 1)

लालचन्द मारोठिया ने अपने रेखाचित्रों के माध्यम से समाज की ज्वलंत समस्याओं को उजागर किया है। आपने समसामयिक वातावरण को अपने चित्रों में आतंकवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ''आतंकवाद'' रेखाचित्र के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में आतंकित वातावरण को दिखलाते हुए यह संदेश देने का प्रयास किया है कि आतंक को पनपाने वाले उसे पकड़ने के लिए उत्तम अभिनय कर रहे हैं। उसे जड़ से समाप्त करना उनका उद्देश्य नहीं और वही आतंकवाद सम्पूर्ण समाज को किस प्रकार डस रहा है। उनकी इस कृति में दर्शाया गया है कि किस प्रकार आतंकवाद को सिर पर चढ़ाया गया है। समाज के कुछ उपद्रवी तत्वों द्वारा आतंक ने समाज को अपने में पूर्ण रूप से जकड़ रखा है।'' (रेखा चित्र संख्या 2)

(रेखा चित्र संख्या 2)

लालचन्द मारोठिया के रेखांकनों में मानव व पशु एकीकृत होते दिखाई देते हैं। उनके द्वारा निर्मित रेखाचित्रों में पेड़ के तने विभिन्न मानव एवं पशुओं की आकृति का एहसास कराते नजर आते हैं जो प्रकृति व मानव के सम्बन्धों की ओर सभी का ध्यान खींचते हैं।

सृजित रेखांकन प्रकृति और मनुष्य के सीधे और अटूट सम्बन्धों को उद्‌बोधित कर रहा है। रेखांकन में मानव जीवन के संघर्ष, उलझी हुई जड़ों में जीव–जन्तुओं की आकृतियों को विविध प्रतीकों का उपयोग करते हुए प्रकृति को जीवन्त करने का सफल प्रयास किया है। रेखांकन द्वारा कलाकार सरल व सहज माध्यम द्वारा जीवन व प्रकृति के पहलुओं को सशक्त अभिव्यक्ति दे रहा है। रेखाओं में घुमाव व संतुलित गति का आभास है। काली स्याही व इंक पैन द्वारा जीव–जन्तुओं के समसामयिक जीवन के उलझावों को दिखाने का प्रयास किया है। (रेखाचित्र संख्या 3)

(रेखाचित्र संख्या 3)

लालचन्द मारोठिया ने अपने रेखाचित्रों में मत्स्य स्त्री–पुरूष युग्म के प्रेम के शाश्वत सम्बन्धों को आधार भूमि प्रदान की है। आपके अनुसार प्रेम मानव की व अन्य जीव–जन्तुओं की स्वभाविक प्रवृत्ति है। जिसे उन्होंने अपने प्रस्तुत रेखाचित्र के माध्यम से व्यक्त किया है। कृति में कलाकार ने मत्स्य युग्म को मानवीय रूप में प्रेमी व प्रेयसी के रूप में एक–दूसरे के प्रेम में आबद्ध होते चित्रित किया है। जल में पूरित कमलों को प्रेम प्रतीक रूप में चित्रित कर चित्रकार ने प्रकृति को भावुकता

के साथ प्रस्तुत किया है। पेन एवं स्याही से निर्मित रेखांकन प्रेम के अटूट बन्धनों को प्रकट कर रहा है। रेखांकन के सरल व सहज माध्यम से जीवन व प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को सशक्त अभिव्यक्ति दी गई है। (रेखाचित्र संख्या 4)

(रेखाचित्र संख्या 4)

लालचन्द मारोठिया ने प्रकृति के द्वारा मातृत्व भाव को करूणा व समर्पण के साथ चित्रित किया है। माँ और शिशु के अविच्छिन्न सम्बन्ध की करूणामय व्याख्या अपने रेखाचित्रों के माध्यम से की है। नारी अपने एक रूप में माँ भी है। कलाकार ने नारी ममत्व के रूप का चित्रण अपने रेखाचित्रों में सहज रूप में किया है।

'मातृत्व' रेखाचित्र में प्रकृति के माध्यम से माँ को अपने शिशु की एक संरक्षिका के रूप में सुरक्षा कवच प्रदान करते हुए चित्रित किया है। शिशु के सौन्दर्य को भी सहजता से चित्रित किया है। इंक पेन से प्रकृति रूपी माँ के शिशु को समाज से जीवन के उद्देश्यों को जोड़ने का प्रयास किया है। कलाकार ने प्रकृति द्वारा माँ व शिशु के रूपाकारों को परस्पर बड़ी ही आत्मीयता से जोड़ा है। रेखाचित्र में संयोजन में समग्रता के दर्शन होते हैं। संयोजन संगत एवं सजीव है। (रेखाचित्र संख्या 5)

(रेखाचित्र संख्या 5)

मारोठिया ने अपने रेखांकनों में बिजूका का भी सृजन बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण रूप में किया है। जिसे कृषक फसलों की रक्षा हेतु खेतों में लगाते हैं। प्रस्तुत रेखाचित्र में बिजूका को प्रकृति के आँगन में एक सजग प्रहरी की भाँति खेतों में चित्रित किया है। बिजूकाओं की आकृतियों को काली सफेद रेखाओं में शीर्ष विहीन बना समाज में मनुष्य के दोहरे रूपों को चित्रित किया है। टीलों पर खड़े वृक्षों की सीध ाी खड़ी रेखाएँ मनुष्य के दृढ़ निश्चय की प्रतीक बिम्ब रूप है। वही आकाश में स्वच्छन्द उड़ान भरते पक्षी अपनी महत्वकांक्षाओं को प्रकट कर रहे हैं। रेखाचित्र में बिन्दुओं द्वारा छाया प्रकाश का प्रभाव उत्पन्न करने का सफल प्रयास कलाकार ने किया है। (रेखाचित्र संख्या 6)

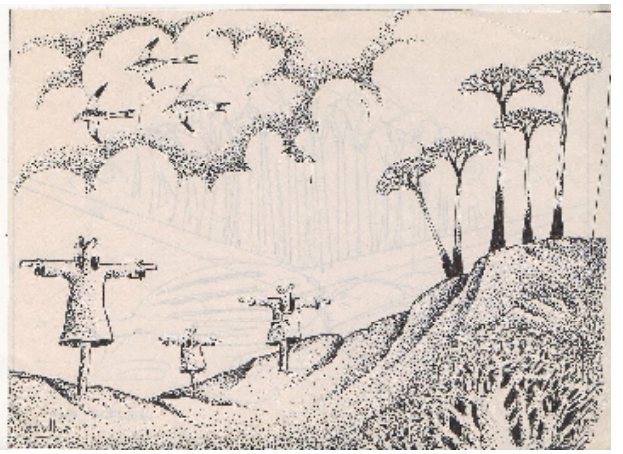

(रेखाचित्र संख्या 6)

मारोठिया ने बादलों को अपने रेखांकनों में पुरूष रूप में चित्रित किया है। आपके बादलों के मानवीकरण में मौलिकता व नवीनता का पुट दृशित होता है। आपने सम्पूर्ण आकाश को बादलों से भरे हुए अभिराम सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। ''बादलों में उन्होंने आदमी और प्रकृति को एक साथ खोजा है। वहीं छटपटाते निरीह मानव की पीड़ा को समझा है। उन्होंने बादलों में सम्पूर्ण प्रकृति को एक साथ देखने व दिखाने का प्रयास किया है।''

प्रस्तुत रेखाचित्र में कलाकार ने अपनी सौन्दर्यमयी भावनाओं के प्रकटीकरण में बादलों का मानवीकरण किया है। बादलों में निर्मित मूर्त अमूर्त आकृति हमारे सामाजिक जीवन के सरोकारों से जुड़ी हुई हैं। रेखाचित्र में आकार बनती बिगडती मुखाकृति

जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करती प्रतीत हो रही है। कलाकार ने अपने कल्पना नेत्रों द्वारा बादलों को मानवीय पुरूष रूप में चित्रित किया है। रेखाचित्र में प्रकृति जीवन की श्वासों से स्पंदित होने का एहसास करा रही है। (रेखाचित्र संख्या 7)

(रेखाचित्र संख्या 7)

इस प्रकार मारोठिया के रेखांकन उनकी कलाकृति का आधार बिन्दु है। आप रेखाओं की लयात्मकता द्वारा भावों की सूक्ष्मता को चित्र फलक पर बड़ी बारीकी के साथ उकेरने का सफल प्रयास करते हैं। आपकी रेखाओं में प्रकृति सचेतन सक्रिय व गतिशील तत्व के रूप में दृष्टिगोचर होती है। आपके रेखाचित्रों में नारी की वेदना, नारी के ममतापूर्ण रूप व स्त्री पुरूष की प्रणय भावना को प्रकृति की सचेतना की अनुभूति के रूप में चित्रित किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कुमावत, डॉ. सोनालिका – सुमेन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व (समसामयिक कला एवं कलाकार राज पब्लिशिंग हाऊस), गोविन्द मार्ग जयपुर, प्रथम संस्करण, 2015, पृ.सं. 69
2. वही, पृ.सं. 69
3. रामकुमार, इतवारी पत्रिका मारोठिया के चित्र 28–11–1982
4. जयपुर, महानगर टाईम्स 24.03.2007 जयपुर संवाददाता प्रकृति की संवेदनाओं को दिया चित्रों का रूप (नारी की वास्तविक दशा को उभारा कैनवास पर)
5. विशेष टीम राजस्थान पत्रिका 15.04.1997
6. नरूका, चन्द्रभान सिंह – आतंकवाद की अभिव्यक्ति करते चित्र, राष्ट्रीय हिन्दी मैग्जीन

डॉ अचला वर्मा
लेक्चरर् डिपार्टमेंन्ट आफ टेक्स्टाइल डिजाइनिंग एण्ड प्रिन्टिंग
डी.ई.आई. टैकनिकल कॉलेज
दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

हाड़ौती भित्ति चित्रण में ''मृग'' अंकन

इस नीले नक्षत्रों से जड़ित आकाश के नीचे जहाँ पर्वतों से झर–झर बहते झरने मोतियों की झालरों का दृश्य उपस्थित करते रहते हों, जहाँ कल–कल नाद करती नदियाँ अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ती चली जा रही हों, जहाँ सदैव प्रकृति के रमणीय और सुरम्य वातावरण में बसन्त श्री सदैव अठखेलियाँ करती रहती हो, वहीं पृथ्वी की इस सुरम्य गोद में पलती वन्य जीवन (पशु जाति) प्रकृति की अद्वितीय सम्पदा है।

भावुक संवेदनशील सहृदय कल्पनाओं में उड़ान भर से ऐसी सुरमयी अनन्त श्यामल प्रकृति जहाँ पशु–पक्षियों का सुन्दर आवास हो कलाकार के समीप आ जाती है। वैसे भी विभिन्न कलाओं का प्रकृति से चोली दामन का साथ रहा है। राजस्थ. ानी चित्रकला में धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, नायक–नायिका, बारहमासी आदि कथानकों में पक्षियों के साथ पशुओं को भी स्थान दिया है। पशु जाति प्रकृति का अभिन्न अंग है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक इसका चित्रण होता रहा है और भविष्य में भी होगा। किन्तु समय व तत्कालीन परिवेश की विभिन्नता के कारण इसके चित्रण में भी विभिन्नता रही है। पंचतंत्र यद्यपि भारतीय पुस्तक है तथापि इसके चित्रांकन की परम्परा फारस से भी पहले की मिलती है और वहाँ से मुगल काल में होती हुई राजपूत शैली में अवतरित हुई, जैसे 1725 ई0 के लगभग मेवाड़ में अंकित पंचतंत्र की चित्रावली से ज्ञात होता है।

वन की श्यामल भूमि में नेत्रों की तिरछी चितवन को समाहित किये चौकड़ी भरते सुन्दर ऊँची–ऊँची कुलाँचें लगाते मृग वन्य जीवों में प्रकृति की अतुल सम्पदा हैं।

साहित्यकारों ने तो सदैव से सुन्दर मदभरी नायिका के नेत्रों की तुलना मृग के नेत्रों से की है। कविवर बिहारी ने तो कमाल ही कर डाला है। वैसे तो पुरूष ही मृगों का शिकार करते हैं परन्तु यहां तो मृग नैनी ही बड़े–बड़े चतुर पुरूषों का शिकार करने में सक्षम हो गई है। प्राचीन काल में तो राजा महाराजा सदैव इसका

शिकार कर इसकी सुन्दर खाल व सींग दीवारों को सजाने तथा माँस खाने के प्रयोग में लाते थे यद्यपि आजकल सरकार ने इनके शिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया है फिर भी लोग चोरी–छिपे इनका शिकार करते हैं।

मृग एक शाकाहारी प्राणी है। सामान्य अवस्था में यह जंगली जीव है, जो जंगलों में विचरण करता है। सामान्यतः मृग हल्के पीले, ललछोंह, नारंगी, काले, चितकबरे, बादामी, भूरे इत्यादि रंग के होते हैं।

भारतीय कला के अन्तर्गत मृगों के अंकन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों में मृगों के चित्रण का महत्वूर्ण स्थान है, जैन आगमों में ईहा मृग, साभर तथा हिरन का अंकन बहुचर्चित रहा है।

वाल्मीकि रामायण के पुष्पक विमान के स्तम्भों पर ईहा मृगों के चित्रों का उल्लेख है।1 महर्षि वशिष्ट के उटज द्वार पर मृग खड़े रहते है।2 ऐसा वर्णन कालिदास ने किया है।

राजा दिलीप जब वन में आते है तो रास्ते में मृगों के समुदाय उनके रथ की ओर एकटक होकर देखते हैं।3 शकुन्तला का मृग के प्रति इतना प्रेम है कि कवि ने उसे उनका पुत्र कहा है। राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाने वाले मृगों पर बाण चलाने की असमर्थता पशु–प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है।4

संस्कृत साहित्य में यत्र–यत्र सर्वत्र मृग की आँखों की तुलना स्त्रियों के नेत्रों से की गयी है। पार्वती ने आखों की चितवन मृगों को धरोहर के रूप में दे दी एवं पार्वती ने आंखों की चितवन हिरणियों से सीखी इस प्रकार के उल्लेख मिलते है।5 अजन्ता कला का एक चार शरीर वाला मृग तो कला जगत का महत्वपूर्ण लक्षण है। अजन्ता में मृग को एकाकी, समूह में तथा अलंकरण के रूप में रूपाहित किया गया है।6

1600ई0 के लगभग की प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय की बाल गोपाल स्तुति के चित्रों में लोचदार ग्रीवा तथा लम्बे पतले पेट वाले मृग अंकित हैं, जिनकी परम्परा अपभ्रंश बाल–गोपाल स्तुति7 एवं भारत कला भवन के जैन कल्पसूत्र8 में देखी जा सकती है।

धार्मिक कथानकों व प्रेमाख्यानों में ऋतु सौन्दर्य, वन सौन्दर्य के प्रसंगों, आखेट के दृश्यों, राग–रागनियों के चित्रो में मृगों का चित्रण होता रहा है। यही परम्परा राजस्थानी कला में रही है। बून्दी, कोटा में तो मृगों की विविध क्रीड़ाओं का चित्रण

दर्शाया गया है। जहाँ शिकार दृश्यों में असहाय अवस्था में मृत्यु के डर से भयभीत होकर छिपते भागते चित्रित हैं, वहीं दूसरी ओर मृगों के समूह को मृग–शावकों के साथ सरोवर से जल पीते व उन्मुक्त विचरण कर ऊँची–ऊँची, कुलाचें मारते वन दृश्यों की शोभा में चार चाँद लगाते हैं, चित्रों में गति है, जीवन है, बड़ी–बड़ी आंखें सुन्दर जीती जागती प्रतीत होती हैं, जो गहरे भूरे व गहरे सलेटी रंग में बनाई गयी हैं।

बून्दी चित्रशाला की भित्ति पर दो व्यक्तियों द्वारा दो मृगों को महल के अन्दर ले जाते हुए दर्शाया गया है। यहां मृगों को तेजी से भागती हुई मुद्रा में दर्शाया गया है। टांगों की मुद्रा से गति का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। मुख ऊपर की ओर गर्व से उठा रखा है। सींग लम्बे हैं, जो पीछे की ओर थोड़ा सा बल खाए हुए हैं जिसको काले वर्ण से दर्शाया गया है तथा जिस पर हल्के भूरे रंग की तिरछी रेखाएँ सुशोभित हैं। इन सींगों के पास छोटी–छोटी पत्तियों के आकार के कान अंकित हैं। सामने का कान स्पष्ट दीख पड़ता है। किन्तु पीछे का कान सिर के पीछे से थोड़ा सा नजर आता है। नेत्रों को सीधा सामने की ओर देखता हुआ चित्रित किया गया है। इनका आकार मछली के आकार का है तथा जिसका एक आगे का किनारा नथुने से जुड़ा हुआ है, इनके नेत्र बादामी वर्ण से चित्रित किए गए हैं जिसके मध्य काले वर्ण का छोटा बिन्दु है। यह मृग गर्दन के ऊपरी भाग पर छोटे–छोटे मोतियों की लड़ी पहने हैं। यह श्वेत व बादामी वर्ण की हैं तथा गर्दन के नीचले भाग पर इसी वर्ण के घुंघरूओं की चौड़ी लड़ी है। दानों ने अपनी छोटी सी पूंछ ऊपर की ओर उठा रखी हैं, जो काली व बादामी है, इन दोनों मृगों का वर्ण काला व बादामी है। गर्दन के आगे का भाग व टांग के किनारे के भाग पर बादामी वर्ण चित्रित किया गया है।

इसके अतिरिक्त मृगों को नायिकाओं के साथ संगीत में मग्न दर्शाया गया है। टोडी रागिनी। (चित्र संख्या–1)

बून्दी छत्रमहल की भित्ति पर अंकित वन दृश्य में दो मृगों को एक–दूसरे के पीछे तेजी से भागते दर्शाया गया है। आगे का मृग ग्रीवा घुमाकर पीछे की ओर देख रहा है। दोनों की मुद्राओं में गति है तथा दोनों का वर्ण बादामी है बाहरी रेखाएँ गहरे भूरे वर्ण से बनी हैं। (चित्र संख्या–2)

यहां की भित्ति पर भी संगीत का आनन्द लेते मृगों को नायिकाओं के साथ देखा जा सकता है। इन चित्रों में मृगों की मुद्राओं को कलात्मक रूप में चित्रित किया गया है।

जैन मन्दिर में मृगों का विशाल समूह दर्शाया गया है, जिन्हें छोटे स्थान पर

बड़ी खूबसूरती से चित्रित किया गया है। मृग दाहिनी दिशा में देख रहे हैं। इस चित्र की पृष्ठभूमि का वर्ण हरा है, कहीं–कहीं यह वर्ण पीला पन लिए, हल्का व गहरा भूरापन लिए दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पृष्ठभूमि का वर्ण मृगों को दर्शाने के पश्चात् किया गया है, क्योंकि कुछ स्थान पर मृगों की बाहरी रेखाएँ व आकृति बिगड़ी हुई क्षतिग्रस्त प्रतीत होती है, मृगों का वर्ण हल्का सलेटी, श्वेत व भूरी छाया से युक्त है। इन मृगों के मध्य एक सींग वाला मृग विशेष आकर्षण का केन्द्र है, जिसको गहरे सलेटी व श्वेत वर्ण से दर्शाया गया है। गर्दन के आगे का भाग, पेट की नीचे का भाग श्वेत वर्ण से चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त नेत्रों तथा नेत्रों के आस–पास का घेरा, आगे का कान तथा मुख के आगे का थूथन इसी श्वेत वर्ण का है। नेत्र की बाहरी रेखा नेत्र बिन्दु, सींग का ऊपरी भाग, उठी हुई पूँछ, पीठ का भाग तथा टांगों का अग्रभाग गहरे सलेटी वर्ण से दर्शाया गया है, देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेत मृग के आगे दूसरा गहरा सलेटी वर्ण का मृग खड़ा कर दिया गया हो।

इन्द्रगढ़ में बने सुन्दर चित्र अधिकांशतः राग–रागिनियों से सम्बन्धित हैं जिसमें सामने के आले में मृगों का समूह नायिका के पीछे चित्रित किया गया है। नायिका वीणा बजा रही है। मृगों के समूह को हल्के रंग की पृष्ठभूमि पर सलेटी वर्ण से बनाया गया है, जिस पर श्वेत व भूरे रंग के द्वारा छाया प्रकाश दर्शाया गया है। इनकी विभिन्न मुद्राएं बनी हैं कोई बैठा है, कोई खड़ा है, कोई गर्दन घुमाकर पीछे की तरफ देख रहा है। इन सभी चित्रों को समय ने धुंधला कर दिया है, यहाँ कभी सुन्दर चित्रों का भंडार रहा होगा।

कोटा के बड़े महल की भित्ति पर बने चित्रों के नीचे के भाग पर आठ–आठ इंच के छोटे–छोटे कई पैनलों में बने पशुओं में मृगों का भी प्रमुखता से चित्रण किया गया है। कहीं इन्हें आपस में सींग लड़ाते तो कहीं मृग शावकों को चित्रित किया गया है। यह मृग लाल या हरी पृष्ठभूमि पर श्वेत वर्ण से दर्शाए गये हैं।

इसके अतिरिक्त यहां की भित्ति पर मृगों को समूह में अनेकों मुद्राओं में देखा जा सकता है। इनके मध्य एक बारहसिंघा भी दर्शाया गया है, जिसके सींग बड़े ही कलात्मक रूप से प्रस्तुत किए गए हैं और सभी के सींग काले वर्ण के दर्शाये गये हैं।

कोटा के अर्जुन महल की दीवार पर मृगों के झुण्ड भागते हुए दर्शाए गए हैं। किसी के छोटे–छोटे कान बने हैं, किसी के बड़े–बड़े सींग बने हैं, प्रत्येक मृग की अलग ही मुद्रा है। कोई गर्व से मुख को ऊपर उठाए हुए है, तो कोई सिर झुकाए हुए है, कोई डरकर भागता हुआ प्रतीत होता है, तो कोई पीछे मुड़कर अपने

साथी को देखता जा रहा है। इसके अतिरिक्त मृगों को घास चरते व सरोवर से जल पीते भी चित्रित किया गया है। चित्र में गति है। इनकी आंखे बड़ी–बड़ी तथा सुन्दर जीती जागती प्रतीत होती हैं, जो गहरे भूरे रंग की व गहरे सलेटी रंग की बनाई गई हैं। पूंछ नीचे की तरफ झुकी हुई है, इन मृगों का वर्ण बादामी हल्का भूरा, हल्का सलेटी व गहरा सलेटी है तथा बाहरी रेखाएं गहरे भूरे रंग से बनाई गई हैं। इस चित्र के मध्य दो बाहरसिंघे आपस में लड़ते हुए दर्शाए गए हैं, इनका वर्ण हल्का सलेटी है। पीठ व टांगों पर गहरे भूरे वर्ण की छाया है तथा बाहरी रेखाएं भी इसी वर्ण से चित्रित की गई हैं। गर्दन पर चार छोटी–छोटी आड़ी रेखाएँ दर्शायी गयी हैं, दोनों ओर के कान स्पष्ट दीख पड़ते है, दोनों ने सामने की टांगे ऊपर की तरफ थोड़ी सी उठा रखी हैं। इन चित्रों में कुछ एक दूसरे को प्यार से देख रहे हैं, तो कोई भाग रहा है, किसी का सिर सामने है तो किसी ने पीछे की तरफ मोड़ रखा है। मृगों को शिकारियों के भय के कारण एक –दूसरे की विपरीत दिशा में भी भागते हुए दर्शाया गया है। जिनका वर्ण हल्का सलेटी व भूरा है, किन्तु छोटे–छोटे घुमावदार कलात्मक सींग गहरे भूरे वर्ण से दर्शाए गए हैं। नेत्रों में भय है, सामने की मृद्रा में घबराहट व बैचेनी स्पष्ट दीख पड़ती है। छोटी–छोटी पूंछें ऊपर की तरफ उठा रखी हैं। मुख व पेट के निचले भाग पर श्वेत वर्ण की छाया है। आँख मुख के मध्य बड़े आकार की बनाई गई हैं जो भाव पूर्ण बनी हैं। अन्य चित्रों में मृगों के समूहों को सरोवर से जल पीते हुए व किनारे की हरी घास पर गर्व से खड़े चित्रित किया गया है। इन सुन्दर मृगों के मध्य पीत वर्ण की छाया से युक्त बाहरसिंघा भी अंकित किया गया है। मृगों जिनके पीछे का भाग अन्य मृगों के आजाने के कारण छिप गया है, वह तेजी से भागते प्रतीत होते है। सींग बड़े आकार के बने हैं। मुख पतला व लम्बा है।

कोटा के छत्रमहल में बने युद्ध चित्र में दो मृगों को दर्शाया गया है जो उस समय के वातावरण पर प्रकाश डालता है, क्योंकि मृगों, ऊटों, कबूतरों व हाथियों की लड़ाई का समारोह राजाओं के राजसी वैभव में वृद्धि करता था। इस चित्र में दो मृग आपस में सिर से सिर व सींग से सींग लड़ाकर लड़ाई करते हुए दर्शाए गए हैं। आस–पास दर्शकों की भीड़ है मृगों को लड़ाने वाले लोग अपने–अपने मृगों को प्रोत्साहित कर रह हैं। मृगों ने अपना मुख नीचे किया हुआ है। सिर व सींग आपस में उलझा रखे हैं। क्रोध व जोश से दोनों की छोटी सी पूँछ ऊपर उठी हुई है। एक ने अपने दोनों आगे की टाँगों को आगे की तरफ बढ़ा रखा है, दूसरे ने अपनी आगे की टांगों को पीछे की तरफ मोड़ रखा है। दोनों के कान खड़े हैं। पृष्ठभूमि के बादामी रंग में ही गहरे भूरे व सलेटी रंग की रेखाओं के द्वारा इनका रेखांकन किया गया है। इनके खुर सींग भी गहरे भूरे व गहरे सलेटी बनाए गए

हैं। (चित्र संख्या–3)

अन्य चित्रों में हिरनों को भागते हुए दर्शाया गया है। इनको भागते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई शिकारी इनके पीछे है या शेर के भय से अपनी रक्षा करने के लिए भाग रहे हैं, सभी ने अपने मुख ऊपर की ओर उठा रखे हैं।

अन्य दृश्य में मृगों के तेजी से भागने की गति का अनुमान लगाया जा सकता है, नेत्र भावपूर्ण हैं। रेखांकन व रंग संयोजन भी उच्चकोटि का प्रतीत होता है। सींग बहुत ही सुन्दरता से घुमावदार दर्शाये गए हैं। गर्दन के आगे के भाग पर, टांगों के पीछे पेट के निचले भाग पर हल्के–हल्के बालों का प्रभाव बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है बाल सलेटी व भूरे वर्ण से दर्शाए गए हैं। सींगों का रंग सलेटी है तथा गहरे सलेटी रंग से बाहरी रेखाएं बनाई गई हैं। मृगों का वर्ण भी सलेटी व भूरा है, जिस पर श्वेत व गहरे सलेटी वर्ण से छाया प्रकाश दर्शाया गया है। इनकी छोटी सी पूंछ नीचे की ओर मुड़ी हुई है। (चित्र संख्या–4)

देवताजी की हवेली की भित्तियों पर भी मृगों के विभिन्न सुन्दर चित्र आलेख्य किए गए हैं।

झाला हवेली में नायिका की ओर बड़े स्नेह से देखते मृग निःसन्देह ही किसका मन नहीं मोह लेंगे। यह चित्र राग पर आधारित है, जिसमें मृगों को गर्दन व मुख ऊपर उठाये बड़े शान्त व प्रेमभाव से नायिका को निहार रहे हैं। मुद्रा में एक सहज सुकुमारता, कोमलता व गति का अहसास होता है। नेत्र ऊपर देखते हुए पूर्ण खुले हुए हैं। कान भी ऊपर की ओर मोड़कर नायिका की बात सुनता हुआ प्रतीत होता है। इसकी पीठ पर सुन्दर गोलाई युक्त उभार हैं जो इसे सुडोलता प्रदान कर रहा है। इसको बादामी वर्ण से दर्शाया गया है तथा पीठ, गर्दन व टांगों के उभारों पर भूरे वर्ण की छाया है, जो कलाकारों के कुशल हाथों का प्रमाण है। छोटी पूंछ कुछ ऊपर की ओर मोड़ रखी है, जो इसकी चंचल प्रवृत्ति की ओर संकेत करती प्रतीत हो रही है। नेत्रों का वर्ण श्वेत है मध्य बिन्दु गहरा भूरा वर्ण व कुछ कालापन लिए हुये है। कर्ण के मध्य भाग पर भी गहरे भूरे वर्ण के द्वारा छाया दर्शायी गयी है। (चित्र संख्या–5)

झालावाड़गढ़ महल में चित्रित चित्रों में मृगों को बड़ी आकर्षण मुद्राओं में नायिकाओं के साथ खड़े व सरोवर में जल पीते तथा हरी भरी भूमि पर विचरण करते देखा जा सकता है। कहीं यह लम्बे सुन्दर सींगों को उठाए सुशोभित हो रहे हैं, तो कहीं अपने दोनों कानों को उठाये व झुकाए देखे जा सकते हैं। इनकी छोटी–छोटी सुन्दर पूंछें कुछ चित्रों में ऊपर की ओर उठकर नीचे की ओर घूम गई

हुल्ली चित्रण (दोड़ी मनिनी)
चित्र संख्या-1

हुल्ली संचरण (वन दृश्य)
चित्र संख्या-2

चीता संचरण (दो शिकारों की लड़ाई)
चित्र संख्या-3

चीता संचरण (वन दृश्य)
चित्र संख्या-4

शावक सहित दो चीतों का चीता
चित्र संख्या-5

डॉ. सरोजिनी उपाध्याय (निर्देशिका)
खुशबू जैन (शोधार्थी)
शिक्षा विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की वैयक्तिक प्रभावशीलता का अध्ययन

प्रस्तावना

वर्तमान समय में वैयक्तिक प्रभावशीलता का विकास अत्यंत की आवश्यक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता हेतु वैयक्तिक प्रभावशीलता की आवश्यकता होती है। वैयक्तिक प्रभावशीलता व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह अपने आत्मविश्वास, उद्देश्य की स्पष्टता व संप्रेषण कौशल के माध्यम से अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकें। वैयक्तिक प्रभावशीलता के माध्यम से व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर समाज और राष्ट्र का जिम्मेदार नागरिक बनता है तथा राष्ट्र की उन्नति और विकास में अपना सक्रिय योगदान देता है,

प्रत्येक व्यक्ति अलग–अलग तरीके से प्रभावशाली होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अलग–अलग उद्देश्य, मूल्य एवं प्राथमिकताएं होती है। शिक्षक व विद्यार्थियों की वैयक्तिक प्रभावशीलता को प्रभावित करने वाले तत्व भी भिन्न–भिन्न होते है।

वैयक्तिक प्रभावशीलता शिक्षको व विद्यार्थियों में उद्देश्य के स्पष्टीकरण, संप्रेषण कुशलता एवं जागरूकता, आत्मविश्वास, लक्ष्य प्राप्ति की योग्यता, समस्या समाधान की योग्यता इत्यादि के विकास में सहायक है। शिक्षक ही वह वह व्यक्ति होता है जो विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को सुनिश्चित आकार देकर उत्तरदायित्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम नागरिक का निर्माण करते है अतः आवश्यक है कि शिक्षक का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो कि विद्यार्थी इन्हें अपना आदर्श माने। इस हेतु वैयक्तिक प्रभावशीलता का विकास अत्यंत आवश्यक है। वैयक्तिक प्रभावशीलता विद्यार्थी को इस योग्य बनाती है कि वह अपने आपको अन्य व्यक्तियों के समक्ष प्रभावपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सके तथा जीवन में आने वाली चुनौतियों का कुशलतापूवर्क सामना कर सके।

अध्यापको की वैयक्तिक प्रभावशीलता

शिक्षकों के कक्षा–कक्ष के सकारात्मक एवं नकारात्मक व्यवहार उनकी वैयक्तिक प्रभावशीलता को दर्शाते है और विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित करते

है। अध्यापक देश के कर्णधार है। उनके कार्यों का प्रभाव विद्यार्थियों के माध्यम से पूरे समाज और देश पर पड़ता है। अतः आवश्यक है कि अध्यापकों का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो कि वह श्रेष्ठतम नागरिक का निर्माण कर सके। वैयक्तित्व रूप से प्रभावशाली होने हेतु अध्यापकों में निम्नांकित गुण होने आवश्यक है–

स्वस्थ व्यक्तित्व

स्वस्थ व्यक्तित्व वाला शिक्षक अपने कार्य को तत्परता, नियमितता, निरन्तरता, स्फूर्ति एवं सफलता से कर विद्यार्थियों के समक्ष आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है।

विषयवस्तु का पूर्ण ज्ञान

प्रभावशाली शिक्षक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। यदि शिक्षक को अपनी विषयवस्तु के संबंध में अधूरा ज्ञान है तो वह अपने विद्यार्थियों के मस्तिष्क को प्रखर नही बना सकता है।

शिक्षण सिद्धान्तों व विधियों का ज्ञान

यदि शिक्षक को शिक्षण सिद्धान्तों एवं विधियों का संपूर्ण ज्ञान होगा तब वह विषयानुसार उनका उपयोग कर विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि को बढ़ाने में सफल होगा।

मनोविज्ञान का ज्ञान

अध्यापक को मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का ज्ञान होना आवश्यक है जिनका शिक्षण से घनिष्ठ संबंध है यथा शिक्षा मनोविज्ञान, बाल–मनोविज्ञान, व्यावहारिक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान आदि।

बाल प्रकृति का ज्ञान

अध्यापक का व्यक्तित्व तभी प्रभावशाली रूप से विद्यार्थियों को प्रभावित करता है जब वह विद्यार्थियों को उनकी रूचियों, इच्छाओ, अभिव्यक्तियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार अधिगम कार्य करवाएं।

मानवीय गुणों से युक्त

प्रभावशाली अध्यापक के व्यक्तित्व में अनेक मानवीय गुणों यथा न्याय, निष्पक्षता, दया, धैर्य, परोपकार, प्रेम इत्यादि का होना अत्यंत आवश्यक है।

प्रभावशाली नेतृत्व

प्रभावशाली व्यक्तित्व हेतु प्रभावशाली नेतृत्व अत्यंत आवश्यक है। इसके माध्यम से वह विद्यार्थियों को ज्ञान के पथ पर अग्रसर कर शिक्षण कार्य को सफल बना सकता

है।

प्रभावशाली अन्तः क्रिया

कक्षा–कक्ष में विद्यार्थियों से अन्तः क्रिया करते समय यदि अध्यापक का व्यवहार नम्र, शिष्ट, निष्पक्ष व स्वाभाविक होता है तभी अध्यापक का व्यक्तित्व प्रभावशाली रूप से विद्यार्थियों को ज्ञान अर्जित करने हेतु अभिप्रेरित करता है।

संप्रेषण कौशल

संप्रेषण वह माध्यम है जिसके माध्यम से एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से विचारों का आदान–प्रदान करता है। वैयक्तिक रूप से प्रभावशाली होने हेतु अध्यापकों में संप्रेषण कौशल का होना अत्यंत आवश्यक है ताकि वह प्रभावशाली रूप से विद्यार्थियों के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत कर अधिगम कार्य कर सके।

कक्षा–कक्ष नियोजन एवं संचालन

सफल शिक्षण हेतु आवश्यक है कि कक्षा– कक्ष सुनियोजित रूप से व्यवस्थित एवं संचालित हो अतः आवश्यक है कि शिक्षक में कक्षा–कक्ष नियोजन एवं संचालन का गुण हो।

निष्पक्ष व्यवहार एवं मूल्यांकन

अध्यापक का व्यक्तित्व तभी प्रभावशाली होता है जब वह सभी विद्यार्थियों के साथ निष्पक्ष व्यवहार करता है एवं निष्पक्ष रूप से उनकी शैक्षणिक एवं सह शैक्षणि ाक गतिविधियों का मूल्यांकन करता है।

वैयक्तिक गुणों से युक्त

प्रभावशाली व्यक्तित्व हेतु आवश्यक है कि अध्यापक में विभिन्न वैयक्तिक गुण यथा परिश्रमी, आत्मसंयमी, आशावादिता, आत्मविश्वासी इत्यादि अनिवार्य रूप से हो।

शिक्षक–शिक्षार्थी संबंध

शिक्षण तभी प्रभावी हो सकता है जब शिक्षक–शिक्षार्थी संबंध न केवल कक्षा–कक्ष में मधुर हो वरन कक्षा–कक्ष के बाहर भी। विद्यार्थी उन शिक्षकों के व्यक्तित्व से प्रभावित होते है जो उन्हें शैक्षणिक के साथ–साथ सह शैक्षणिक गतिविधियों हेतु अभिप्रेरित करे। शिक्षक–शिक्षार्थी संबंध मधुर हो इस हेतु यह भी आवश्यक है कि अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से जाने एवं उनकी रूचि के अनुसार शिक्षण कार्य करे।

अध्यापकों का अन्य अध्यापकों के साथ अर्न्तवैयक्तिक संबंध

शिक्षक वैयक्तिक रूप से तभी प्रभावशाली हो सकता है जब वह अन्य शिक्षकों

के साथ मिलकर शिक्षण कार्य को प्रभावी बनाने हेतु प्रयास करे। शिक्षक एक–दूसरे के साथ प्रतिद्विन्दी की भांति नही वरन सहयोगी की भांति कार्य करे।

अध्यापक का योगदान

''समाज में अध्यापक एक महत्वपूर्ण व मूल्यावान स्थान रखता है। जिस समाज में वह रहता है उस पर वह अपना दूरगामी प्रभाव अंकित करता है। कोई भी व्यक्तित्व समाज को इतना अधिक प्रभावित नही करता जितना की अध्यापक''। (शिबेन रायना) अध्यापक विद्यार्थी व समाज का भविष्य निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः आवश्यक है कि अध्यापक विद्यार्थियों को केवल विषयगत ज्ञान ही नही वरन् अनेक सामाजिक मूल्यों यथा–ईमानदारी, दया, प्रेम, सहनशीलता, देशप्रेम इत्यादि से भी अवगत कराएं जो कि समाज के विकास हेतु अत्यंत आवश्यक है।

विद्यार्थियों की वैयक्तिक प्रभावशीलता

वर्तमान समय के विद्यार्थी देश के भावी नेता है और विद्यार्थियों का प्रभावशाली व्यक्तित्व उनके उज्जवल भविष्य को निर्धारित करता है। विद्यार्थी के वैयक्तिक रूप से प्रभावशाली होने हेतु उनमें निम्नांकित गुण होने आवश्यक है–

आत्म– प्रबंधन

आत्म –प्रबंधन का गुण अर्थात् अपने समस्त कार्य नियमित एवं व्यवस्थित रूप से करना। यह गुण प्रभावशाली व्यक्तित्व हेतु अत्यंत आवश्यक है।

स्व–जागरूकता

वैयक्तिक रूप से प्रभावशाली होने हेतु यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों में स्व – जागरूकता का गुण हो अर्थात् उसमें अपनी– शक्तियों व कमजोरियों को पहच. ानने की क्षमता हो।

आत्म–अनुशासन

आत्म– अनुशासन विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने हेतु आवश्यक है। अध्ययन में समय की अनियमितता विद्यार्थी को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नक. ारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

शैक्षिक कौशल

विभिन्न शैक्षिक कौशल यथा– स्पष्ट एवं अविराम पढ़ना, प्रभावशाली लेखन, आत्मविश्वासपूर्ण एवं प्रभावी संप्रेषण, शैक्षिक एवं सहशैक्षिक गतिविधियों में भागीदारी इत्यादि विद्यार्थी के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने में सहायक हैं

लक्ष्य का निर्धारण एवं प्राप्ति हेतु सतत् प्रयास

वही विद्यार्थी वैयक्तिक रूप से प्रभावशाली होता है जिसका लक्ष्य निर्धारित हो एवं लक्ष्य को सफलतापूर्वक प्राप्त करने हेतु सतत् प्रयास करे।

मानवोचित गुणों का विकास

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में विभिन्न मानवीय गुणों यथा प्रेम, सहयोग, दया, ईम. ानदारी, सत्यता, धैर्य, न्याय, निष्पक्षता इत्यादि का विकास अत्यंत आवश्यक है।

प्रभावी संप्रेषण

प्रभावशाली व्यक्तित्व हेतु आवश्यक है कि विद्यार्थी में अन्य विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के साथ प्रभावशाली रूप से संप्रेषण करने का कौशल हो।

विद्यालय की सह शैक्षिक गतिविधियों में भागीदारी

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए आवश्यक है कि वह केवल अध्ययन के क्षेत्र में नही वरन् सह–शैक्षिक गतिविधियों में भी अपने आपकों प्रभावशाली रूप से साबित करे।

सृजनात्मकता एवं नेतृत्व क्षमता का विकास

सृजनात्मकता नये–नये तरीको से कुछ नयी खोज करने की योग्यता है जो विद्यार्थी के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती है। विद्यार्थी देश के भावी नेता है अतः नेतृत्व क्षमता का विकास उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने हेतु अत्यंत आवश्यक है।

वैयक्तिक गुणों का समावेश

विद्यार्थी के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने हेतु आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व में विभिन्न वैयक्तिक गुणों यथा–लगान, परिश्रम, आत्मविश्वास, आशावादी, उत्साह इत्यादि का समावेश हो।

शिक्षक के प्रति सम्मान

विद्यार्थियों के अपने शिक्षकों के साथ मधुर संबंध उनकी शैक्षिक उपलब्धियों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते है। अतः विद्यार्थियों के प्रभावशाली व्यक्तित्व हेतु आवश्यक है कि वह अपने शिक्षकों को उचित सम्मान दे एवं उन्हें अपना आदर्श मानें

अन्य विद्यार्थियों के साथ सहयोगात्मक संबंध

यह आवश्यक है कि विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों के साथ प्रतिद्विन्दात्मक संबंध

नही वरन् सहयोगात्मक संबंध बनाए तभी वह अन्य विद्यार्थियों को प्रभावशाली रूप से प्रभावित कर सकता है।

इस प्रकार वैयक्तिक प्रभावशीलता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता हेतु अत्यंत आवश्यक है।

Reference

* Datta Sanjay, "Shiksha Manovigyan Me Adhigam Avem Vyaktitva"Jain Prakashan, Mandir, Jaipur (2005)
* Deepti Pattak, "Personal Effectiveness: An Empiricd Study Om School Students" (2010)
* Micarber, "Qualitites of a good students", www.englishforams.com
* Pathak P.D., "Shiksha Manovigyan" Agrawal, Prakashan, Mathura (2001)

कृष्णा खीची
शोधार्थी
भारतीय संस्कृति व इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

दलित एवं दलित साहित्य लेखन

राजस्थानी साहित्य में विभिन्न विधाओं में लेखन किया गया है, यहॉ लिखा जाने वाला अधिकतर लेखन कार्य अपनी तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित रहा है। राजस्थानी साहित्य के द्वारा ही समाज की विभिन्न समस्याओं का यथातथ्य निरूपण दृष्टिगोचर होता है तथा उनका समाधान भी हमें साहित्य के द्वारा ही प्राप्त होता है।

दलित साहित्य का लेखन भी इन्हीं तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों के बाद प्रकाश में आया है। दलित साहित्य की प्रेरणा भी संघर्ष व क्रांति में ही रही है। दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'दल' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है तोड़ना–कुचलना। दलित शब्द आधुनिक है, परन्तु दलितपन का इतिहास प्राचीन है। प्राचीनकाल में दलितों के लिए शूद्र, अतिशूद्र, अन्त्यज और अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग हुआ है और 19 वीं शताब्दी में यह शब्द दलित के रूप में प्रयोग किया गया है।

दलित वर्ग का सामाजिक सन्दर्भो में अर्थ होगा कि, वह जाति, समुदाय जो अन्यायपूर्वक कुछ विशिष्ट जातियों द्वारा दमित किया गया है। हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार ''यह समाज का निम्नतम वर्ग है, जिसकी विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप होती है। दलितों की ऐसी परिस्थितियों के कारण ही साहित्यकार दलित लेखन करने को आकृष्ट हुये। दलितों के दुःख, संघर्ष, आक्रोश, गुलामी, उपहास, आशा, आकांक्षा और विसंगति से भरे हुए दरिद्र जीवन को कलात्मक रूप में प्रकट करना ही दलित साहित्य है।

दलित साहित्य की परिभाषा देते हुए शरतचन्द्र मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''दलित साहित्य का अस्पृश्यता एवं दासत्व से शत्रुत्व है क्योंकि दलितों का वांगमय ही दलित साहित्य है। दलित साहित्य एक ऐसा साहित्य है, जो सभी तरह की वर्ण व्यवस्था, जाति–पांति, ऊँच–नीच, भेदभाव के दायरे से ऊपर है, जिसे धर्म, भाषा और प्रदेश की सीमाओं में नहीं बाधा जा सकता है''।

दलितों को सामाजिक समता दिलाने के लिए कई सामाजिक आन्दोलन भी प्रारम्भ किये गये थे इन सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा भी दलित चेतना का प्रादुभ. ाव हुआ, फलस्वरूप दलित साहित्य प्रकाश में आया। दलित साहित्य को हम इस तरह भी परिभारित कर सकते है कि दलितों का, दलिता के द्वारा, दलितों के लिए लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य नहीं है बल्कि समाज के व सभी वर्ग जो शोषित व पीडित है के लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य की श्रेणी में आता है साहित्य का मुख्य सरोकार चूंकि समाज से है अतः सामाजिक–सांस्कृतिक समस्याएँ, संघर्ष और द्वन्द्व इसमें अभिव्यक्ति पाते है।

दलित साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन का अभिन्न अंग है, 19 वीं व 20 वीं शताब्दी में कई विभूतियाँ हुई जिनके प्रयासों के द्वारा दलित चेतना का प्रार्दुभाव हुआ। जिनमें सर्वप्रथम महात्मा ज्योतिबा फुले का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है, इन्होनें अपनी कृत्ति ''गुलामगिरी'' के जरियें ना सिर्फ दलित समाज की दिशा व दशा पर ही व्यापक प्रभाव डाला था अपितु सामन्ती मूल्यों, सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर भी तेज किया था।

महात्मा ज्योतिबा फुले ने अपना पूरा जीवन शूद्र और अतिशूद्र जातियों के मन में स्वाभिमान और आत्म–गौरव की भावना जगाने में ही समर्पित किया। इन्हीं के प्रयासों के द्वारा दलित चेतना का प्रार्दुभाव हुआ तथा कई साहित्यकार दलित साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए आकृष्ट हुये। दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फुले को अपना विशिष्ट विचारक ही नही माना, बल्कि अम्बेडकर ने भी इन्हें अपना शांतिपुंज स्वीकार किया।

भीमराव अम्बेडकर का नाम भारत के परिवर्तनकारी दलित आन्दोलनों के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। वे भारत के दलित समाज के उद्वारक तथा पुरूषार्थ के प्रतीक थे। दलित चेतना के उदय में डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक प्रकाश पुंज की तरह है, इन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में दलितोद्वार के लिए अनेक कार्यक्रम शुरू किए। जिसका प्रभाव देश की समस्त दलित जातियों पर प्रमुख रूप से पड़ा। ये आजीवन दलित जातियों के अधिकारों के लिए लडते रहे। भीमराव अम्ब. ेडकर दलित समाज के उद्वारक तथा पुरूषार्थ के प्रतीक थे, अम्बेडकर से जुडने के बाद हीदलित साहित्य को नया अर्थ मिला ये ही पहले विद्वान थे, जिन्होने दलितों के बीच से उठकर दलितों की समस्या को विस्तृत आयाम में राजनीति का प्रश्न बनाया। इन्होने युगों से उपेक्षित, अछूत, शोषणग्रस्त जनसमुदाय के आत्म–घुटन को साहित्य–सृजन के माध्यम से व्यक्त किया।

महात्मा गाँधी ने दलितोत्थान के लिए ''हरिजन सेवक संघ'' की स्थापना करके सम्पूर्ण भारत में अछूतोद्वार आन्दोलन चलाया, इसी समय गॉधीजी ने प्रसिद्व साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से इन्होंने अस्पृश्यता के विरूद्ध जनमत को जागृत करने का काम किया। गाँधीजी ने अस्पृश्यता तथा उसके निवारण के सम्बन्ध में अपने विचार अपनी कृत्तियों यंग इण्डिया, हिन्दी नवजीवन, हरिजन, आदि में व्यक्त किये इन्होंने अपने आन्दोलनों के माध्यम से सवर्ण व अवर्ण के भेद को स्पष्ट किया।

महात्मा गाँधी दलितों का उत्थान सर्वप्रथम धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से करना चाहते थे, जिससे सवर्ण–अवर्ण के भेदभाव को समाप्त करके इन जातियों को राष्ट्रीय एकता व सामंजस्य की धारा में लाया जा सके। अतः उनकी दृष्टि में दलितों की समस्या सामाजिक और धार्मिक थी।

महात्मा ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर के द्वारा महाराष्ट्र में चल रहे दलित आन्दोलनों के प्रभाव से ही दलित लेखन का प्रारंभ मराठी साहित्य से माना जाता है। मराठी भाषा में ही सर्वप्रथम दलित साहित्य का स्वर अपनी मुखरता व प्रतिशोध की संस्कृति के साथ सुनायी देता है, जिसका प्रभाव अन्य भारतीय भाषाओं पर भी पडा।

मराठी साहित्य में आत्मकथाओं का लेखन भी बहुतायत से किया गया था। बाबा भीमराव अम्बेडकर की ''मी कासा झाला'' (मैं कैसे बना) से मराठी दलित आत्मक. थात्मक साहित्य का प्रारम्भ माना जाता है सन् 1960 के दशक में मराठी दलित साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से अपने दर्द, निराशा का बयान किया, इनमें प्रमुख है– शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', दया पवॉर की 'चाणी का स्वाद', लक्षण माने की 'बबूल की टहनियॉ', केशव केलाम की 'हकीकत'। आत्मकथ. ाओं की उपयोगिता बतलाते हुए डॉ. मीनू इन आत्म पुस्तकों को सामान्य उपन्यास अथवा कहानी की तरह कल्पना से युक्त और मनोरंजन की वस्तु नही मानती है उनका कथन है कि–''आत्मकथा में लेखक के जीवन की प्रामाणिक घटनाओं का वर्णन होता है आत्मकथा समाज परिवर्तन की मॉग करती है, यह मन बहलाव की पुस्तके नहीं है''।

मराठी साहित्य का प्रभाव कन्नड़, उड़ीसा, पंजाबी, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं पर पड़ा। यह आश्चर्य ही है कि हिन्दी दलित साहित्य ने सबसे ज्यादा प्रभाव दलित साहित्य से ही ग्रहण किया है, इसको हस तरह भी कहा जा सकता है, कि भक्ति आन्दोलन जैसे दक्षिण से आरम्भ होकर उत्तर भारत में विस्तृत हुआ, वैसे ही दलित साहित्य का स्वर महाराष्ट्र से शुरू होकर पूरे उत्तर भारत में विस्तार पाता है।

हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का प्रार्दुभाव मनुष्य की दुःखानुभूति और आत्मसम्मानपूर्वक जीवनयापन के लिए आक्रोश व क्रांतिकारी भावना के परिणामस्वरूप हुआ। कबीर से लेकर लोकनायक तुलसी, मुशी प्रेमचन्द, यशपाल, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, मुक्तिबोध, सुमित्रा नन्दन पंत जैसे अनेकों मूर्धन्य साहित्यकारों ने दलितों का जीता–जागता चित्र अंकित कर उनके मुक्ति व संघर्ष के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया।

महाराष्ट्र के बाहर दलितों के जीवन की त्रासदियों पर लिखने का श्रेय मुंशी प्रेमचंद्र को ही दिया जाना चाहिये जिन्होंने सर्वप्रथम दलितों की पीडा को साहित्य में चित्रित किया है प्रेमचन्द्र ने 'रंगभूमि' की रचना दलितों को केन्द्र मानकर तथा 'कर्मभूमि' की रचना दलित चेतना के तत्व के रूप में की है।प्रेमचन्द्र कृत ''गोदान'' में दलितों की सामाजिक दशा का चित्रण प्राप्त होता है यह इनकी विशिष्ट कृति है जिससे दलित चेतना का प्रार्दुभाव हुआ। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने कहानियों का भी लेखन किया है इनमें 'ठाकुर का कुआँ, 'कफन' व बूढी काकी' प्रमुख है। जिनमें दलित वर्ग पर सवर्ण का वर्चस्व दिखाया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त का कहना था कि स्वतंत्रता, समानता व बधुंत्व की स्थापना दलित विर्मश का मुख्य उद्देश्य है, तो इसके लिए हिन्दी साहित्यकार आजीवन संघर्ष करते रहे है। समता की भावना से परिपूर्ण कवि मैथिलीशरण गुप्त लिखते है–

'' अपना चातुर्वर्ण्य विधान,
हे गुण–कर्म–स्वभाव प्रधान।
छोडो ऊँच नीच का दम्भ
सम है हम सबका आरम्भ''।

सुमित्रानन्दन पंत बन्धुत्व की भावना से युक्त एक नयी मानवता की रचना करना चाहते है यथा–

'' सर्वमुक्ति हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब
बने विश्व जीवन की स्वर लिपि,
जन–जन मर्म कहानी''।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने अपनी रचनाओं में पूँजीवादी क्रुचक को समाप्त करने के लिए सामान्य जनों को संगठित करने का आह्वान करते है, इन्होने समाज के गलित अंग को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के कथाकारों ने अपनी लेखनी द्वारा दलित साहित्य के क्षेत्र में उत्कृष्टतम कार्य किया

है।

मराठी भाषा की तरह हिन्दी का दलित लेखन भी आत्मकथा प्रधान रहा है यों तो कविता, कहानी, निबंध आदि विधाओं पर भी लेखकों ने कलम चलाई है लेकिन जब भी दलित साहित्य का समग्र आकलन होता है तो कसौटी पर प्रायः आत्मक. था को ही रखा जाता है। इनमें भी मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मिकी की 'जूठन' और सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' काफी चर्चा में रही है। ये आत्मकथाएँ व्यक्तिवाचक होते हुए भी राजनैतिक सोच व व्यवहार को उजागर करती है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आदिकालीन साहित्यकार हो या मध्यकालीन अथवा आधुनिक सभी ने अपने साहित्य में समता, समानता एवं बन्धुत्व भाव की प्रतिष्ठा में अपना योगदान दिया। अतः स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में दलित चिन्तन अपने सरोकर के साथ विद्यमान है। हिन्दी की आधुनिक काव्यधाराओं में दलित वर्ग का चित्रण अधिक गइराई के साथ होता गया है।

राजस्थान के संत साहित्य में भी दलित चेतना की झलक दिखाई देती है मध्ययुगीन संतों ने धार्मिक कट्टरता, शास्त्रबद्धता, पुरोहिताई, पाखण्ड व कर्म काण्ड पर गहरे प्रहार किए और समाज की जड़ मान्यताओं तथा उपासना पद्वति पर गंभीर प्रश्न चिन्ह लगाए। इन्होंने लोगो को सम्मानपूर्ण जीवन का मार्ग दर्शाते हुए जाति व्यवस्था की विसंगतियों का उजागर किया और बाह्यणवाद को चुनौती दी। धर्म के क्षेत्र में समानता की स्थापना तथा जाति की सीमाओं से परे व्यक्ति की महत्ता को स्थापित करना ही इन संतों का मुख्य उद्देश्य था। दलित संतों के द्वारा चलाए गए चेतनावादी आंदोलन के परिणामस्वरूप जहाँ एक तरफ जाति–पाति के बंधन शिथिल हुए वही दलित साहित्य का विकास हुआ।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए संत दादू ने भी समाज में व्याप्त वर्ग भेद को बडी निर्भिकता से खण्डन किया। जातिवाद की भ्रान्ति का दादू ने युक्तिक ढंग से निराकरण प्रस्तुत किया उन्होंने कहा कि जैसे एक ही कूपजल के अनेक नाम है, वैसे ही एक आत्मा में नानाविध जातियों की कल्पना कर ली जाती है, किन्तु इस शरीर में बोलने वाली चेतन आत्मा की कोई जाति नहीं है। अज्ञानपाश के विच्छिन्न होने पर आत्मा जाति रहित ब्रह्म में समाविष्ट हो जाती है।

दादू ने स्पष्ट उद्घोष किया था कि निम्न जाति के व्यक्ति भी ईश्वरोपासना कर सकते है, क्योंकि उस परमात्मा की दृष्टि में कोई न तो ऊँचा और न कोई नीचा। हो भी कैसे सकता संसार की विचित्र रचना रूप रंग आदि सभी उसके द्व

ारा जो रचित है–

''दादू कहे सब रंग तेरे तै रंगे, तू ही सब रंगे नाहि।
सब रंगे तेरे तौ किये, दूजा कोई नाहि।''

संत दादू ने अपनी रचनाओं 'दादूवाणी', 'दादू दयाल जी रा दूहा' के जरिये दलितों की तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करके समानता की भावना स्थापित करने का प्रयत्न किया है।दादू की शिक्षाओं को इनके शिष्यों एवं अनुयायियों ने दूर–दूर तक फैलाया। इनके प्रमुख शिष्यों में गरीब दास, दया बाई, सहजोबाई, चरणदास आदि प्रमुख है। इन संतो ने साधारण समाज के आम आदमी की व्यथा को समझा और जनमुक्ति के एक प्रखर–स्वर का उद्घोष अपनी काव्यसर्जना में भी किया। तत्कालीन समाज में जो और भी विकार, विषमतायें, विसंगतियाँ थी, व्यक्ति और समाज के नैतिक आचरण में जो दोष थे, उन्हें भी दूर करने का प्रयास किया। मध्य कालीन संतो ने अस्पृश्यता के विरूद्व जो नव चेतना का आरम्भ की, उसने 19 वीं व 20 वीं शताब्दी में एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया।

परिणामस्वरूप दलित वर्ग में भी कुछ संतों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने दलित समाज को नई दिशा प्रदान करते हुए समाज सुधार के कार्य किये।दलित वर्गो के प्रमुख संतो में गरीब दास, संत दुर्बलनाथ, मलूकदास, जांभोजी, जसनाथजी, रज्जब आदि प्रमुख थे। इन संतो के साहित्य में ऐसे छंद है जिनमें जाति–पाति और वर्ण–व्यवस्था पर प्रहार किया गया।

''जांत–पांत पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि को होय।''

यह उक्ति उस समय के संतो की वाणी में मूल मंत्र की तरह प्रभावशाली बनी। इन संत महात्माओं के द्वारा अनेक रचनात्मक सुधार किये गये। जिनके महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए। दलित समाज गतिशील बना, उसमे एक नई चेतना का संचार हुआ, उसे एक नई दिशा मिली।

दलित साहित्य के विकास क्रम में संत और भक्ति कवियों की तरह अनेकानेक साहित्यकारों ने भी दस्तक दी। आधुनिक काल में कतिपय साहित्यकार राजस्थानी साहित्य से जुडे हुए है इनमें श्री हरदान हर्ष, मिठेश निर्मोही, डॉ. राजकुमार गोठड, डॉ. राजकुमार गरवा आदि प्रमुख है श्री हरदान हर्ष ने दादीसा, हेलों,राजस्थानीसाहित्य का इतिहास, एक दूजा रो आसरों आदि की रचना की तथा ये आधुनिक साहित्यकार आज भी दलित साहित्य की अभिवृद्धि में अपना योगदान दे रहें है।

इस प्रकार दलित साहित्य जाति भेद के खिलाफ साहित्यिक उत्पीड़न, मानवता की सशक्त आवाज बनकर उभरा है अतः दलित साहित्य का उद्देश्य भव्य मुक्त,

शोषण मुक्त, जातिविहीन व वर्गविहिन समाज की स्थापना करना है। आज आवश्यकता है कि राजस्थानी साहित्य में व्यक्ति जाति और वर्णकी संकीर्ण दीवारों को तोड़कर समग्र समाज की समानता का निर्माण करे और राजस्थानी साहित्य अपनी लेखनी द्वारा इस दिशा में अग्रसर है। दलित साहित्य जितना अधिक व्यापक हो जायेगा उतना ही अधिक मनुष्योन्मुखी हो जायेगा और तब यह निःसकोच कहा जा सकता है कि यह साहित्य जितना मनुष्योन्मुखी हो जायेगा, उतना ही अधिक प्रखर, उपयोगी, प्रभावशाली बन जायेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. यादव, वीरेन्द्र सिंह–इक्कीसवीं सदी का दलित आंदोलन साहित्यिक एवं सामाजि. कसरोकार, प्रकाशक राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
2. हर्ष, हरदान–डॉ. भीमराव अम्बेडकर, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
3. मेघवाल, कुसुम–हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, सिंधी प्रकाशन, उदयपुर
4. निराला, विवेक–साहित्यमें दलित चेतना, शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद 2000
5. पूरणमल–दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय, अविस्कार पब्लिकेशन, जयपुर 2002
6. रत्तु, कृष्ण कुमार–समकालीन भारतीय दलित समाज (बदलता स्वरूप और संघर्ष)

डॉ. कविता
पोस्ट डॉक्टरल, शोध छात्रा,
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

धर्मसूत्रों में राजा के उत्तरदायित्वों का परिशीलन

प्राचीन कालीन राजा की शक्तियों और उत्तरदायित्वों का उल्लेख धर्मसूत्रों में वर्णित है। राज्य के निर्माण की संकल्पना के साथ ही उसे सुरक्षित एवम् सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता महसूस हुई जिसे राजा के पद के सृजन के साथ पूरा किया गया। इसका सबल प्रमाण गौतम धर्मसूत्र में है जिसमें यह वर्णित है कि केवल जन–समूह से ही राज्य का निमार्ण नहीं होता, अपितु उसके लिए किसी स्वामी या शासक का होना अति अनिवार्य है क्योंकि यह स्वामी या शासक किसी भी राज्य में अनुशासन बनाए रखता है और बाह्य आक्रमणों से राज्य को सुरक्षा प्रदान करता है।[1] वस्तुतः धर्मसूत्रों में राजा का मुख्य कार्य अपने साम्राज्य को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखना माना गया है परन्तु वह यह कार्य राजा बिना अमात्यों/मंत्रियों, कोश, बल तथा मैत्री संबंधों के बिना नहीं कर सकता था अतः राजा को सहयोग करने के लिए इन पदों को सृजित करने की भी आवश्यकता हुई।[2] धर्मसूत्रों के विस्तृत अध्ययन से राजा के विभिन्न उत्तरदायित्वों पर प्रकाश पड़ता हैं जिसकी विवेचना नीचे वर्णित हैं। जैसे–

आपस्तम्ब और गौतम धर्मसूत्र में राजा के लिए सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था को संचालित करना अनिवार्य माना गया हैं।[3] इन धर्मसूत्रों में यह वर्णित है कि राजा या स्वामी की पहचान उसकी शासन व्यवस्था के संचालन से है। इस शासन व्यवस्था को चलाने के लिए उसे अमात्यों की मद्द की जरूरत पड़ी।

शासन व्यवस्था को संचालित करने के साथ–साथ राजा के लिए बल/सेना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री को स्थापित करना अनिवार्य माना गया।[4] धर्मसूत्रों में वर्णित राजा का यह उत्तरदायित्व इस तथ्य को इंगित करता है कि प्राचीन कालीन राज व्यवस्था सेना पर आश्रित थी जो राजा के प्रभाव को बढ़ाने एवम् बनाने में कारगर सिद्ध हुई। सेना की इस सहायाता से राजा या स्वामी जहां एक और आन्तरिक व्यवस्था को बनाए रख सके वहीं दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में भी अपनी छवि कायम कर

पाये। यही कारण था कि प्राचीन काल में पड़ौसी राज्यों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव उत्पन्न हुआ और सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, कला और सांस्कृतिक गतिविधियों का आदान–प्रदान हुआ और यह क्षेत्र व्यापक बना।

विष्णुधर्मशास्त्र में राजा का मुख्य उत्तरदायित्व अनियन्त्रित लोगों को दबाना और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करना माना है।[5] इस तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा के हाथों में समस्त न्यायिक शक्तियां विद्यमान थी तथा राजा को न्याय से भी ऊपर माना गया। प्राचीनकालीन राजा न्याय का मूल केन्द्र था तथा जनता का उसको समर्थन एवम् विश्वास प्राप्त था। वशिष्ठ तथा शंखलिखित धर्मसूत्रों से यह पता चलता है कि न्याय राजा का व्यक्तिगत कार्य या व्यापार था और प्रजा की रक्षा करना राजा का व्यक्तिगत कार्य था।[6] इस तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रजा की रक्षा करना राजा का सर्वोच्च कर्तव्य था और यह कर्तव्य बिना अपराधियों को दण्डित किए पूर्ण नहीं हो सकता था, अतः राजा के लिए व्यवहारदर्शन का ज्ञान अनिवार्य माना गया।

वशिष्ठ धर्मसूत्र में यह भी वर्णित है कि यदि राजा उचित न्याय व्यवस्था नहीं कर पाता तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता था।[7] यह प्रायश्चित उपवास के रूप में होता था जैसे निरपराधी को दण्डित करने पर राजा को तीन दिन का उपवास करना पडता था।[8] अतः प्राचीन काल में राजा प्रमुख न्यायाधीश होता था। परन्तु न्याय का कार्य वह अकेले नहीं कर सकता था। यही कारण रहा कि राजा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था जिसकी विवेचना गौतम धर्मसूत्र में मिलती है।[9] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्रयुक्त लेन–देन सम्बन्धित न्याय की व्यवस्था भी करता था।[10] वशिष्ठ धर्मसूत्र और विष्णु धर्मसूत्र में व्यवहार शब्द से आशय झगडे या मुकदमें से लिया गया है[11] जो राजा का कर्तव्य माना गया है। ये झगडे भूमि, सम्पति, पशुचोरी, दृव्यचोरी आदि से संबंधित होते थे। धर्मसूत्रों के विस्तृत अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में लोग नैतिक आचरण करते थे। लेकिन आगे चलकर उनके जीवन में बेईमानी घुस गयी, परिणामस्वरूप राजा को कानूनी नियमों का निर्माण करना पड़ा और विविध कानूनों को लागू करना पड़ा।

उपरोक्त उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त राजा का एक और कर्त्तव्य करों को लगाना भी माना गया जिसकी परिचर्चा धर्मसूत्रों में मिलती है। गौतम धर्मसूत्र में यह वर्णित है कि राजा उपज का छठा भाग ले सकता था जिसका समर्थ विष्णुधर्मसूत्र में भी मिलता हैं।[12] वस्तुतः कर वसूल करने के पीछे मूल उद्देश्य राज कोष को भरना था।

जिसके कारण कृषि, जल–स्थल के मार्ग, राजधानी, बांध, हाथियों को पकड़ना,

नगरों एवं ग्रामों को बसाना आदि कार्य राजा के द्वारा किए जाते थे।[13] राजा को कर देने के विषय में बहुत से कारण बताये गए है जो धर्मसूत्रों में वर्णित है। जैसे गौतम के अनुसार राजा रक्षा करता है, अतः उसके लिए उसे कर लेना चाहिए।[14] बौधायन धर्मसूत्र ने इस कर को राजा का वेतन माना है।[15]

अतः कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में राजा के द्वारा कर को प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक क्रियान्वित होती थी जिसके कारण वह अपने राजकोष की पूर्ति कर पाता था। यही करण था कि राजा अपने साम्राज्य की अभिवृद्धि एवं संरक्षण कर सका और अपनी सेना को भी व्यवस्थित कर सका। अतः धर्मसूत्रों में राजा उसी व्यक्ति को माना गया जो अपनी प्रजा की रक्षा कर सकता है। यह कार्य सबल एवं गुणी राजा के बिना अधूरा था। शंखलिखित धर्मसूत्र में यह वर्णित है कि राजा को शक्तिमान, दयालु, दूसरों के अतीत कर्मों का जानकार, तप, ज्ञान एवं अनुभव वालों पर आश्रित, अनुशासित मत वाला, अच्छे एवं बुरे भाग्य में समान स्वभाव रखने वाला, सत्यवादी, मन एवं देह में पवित्र, कार्यपुष्ट, दुष्कर्मों से दूर रहने वाला, शक्तिशाली, स्मृतिवान, वचन एवं कर्म में मृदु, वर्णाश्रम के नियमों का पालक, अर्थशास्त्र एवं तीन वेदों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।[16] गौतम धर्मसूत्र में राजा के लिए ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद तीनों वेदों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। अन्वीक्षा की शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था।[17]

उपरोक्त विवेचना यह सिद्ध करती है कि राजा को मन, वचन एवं कर्म में प्रौढ़ एवं वयस्क होना पडता था तथा उसे समस्त लोगों के अनुसार आचरण करना पडता था। वास्तव में राजा के गुण एवं उतरदायित्वों की जो रूपरेखा धर्मसूत्रों में वर्णित है वो प्राचीन शासकों के द्वारा भी पूरी की गई। इन कार्यो क अतिरिक्त राजा का एक अन्य कार्य धर्म के अनुसार आचरण करना तथा यह देखना था कि प्रजा धर्म के अनुसार चल रही है या नहीं। वस्तुतः राजा को परम्परागत नियमों एवं सदाचार के अनुसार आचरण करना पड़ता था और अपनी प्रजा के आचरण को देखना पडता था।[18]

धर्मसूत्रों में जनकल्याणकारी कार्य करना भी राजा का उतरदायित्व माना गया। इन जनकल्याण कार्यों में सडक निर्माण, औशधालय निर्माण, वृक्षारोपण, सेतुबंध आदि कार्य सम्मिलित है।[19]

उपरोक्त विवेचना यह सिद्ध करती है कि राजा अपनी प्रजा को आंतरिक एवं बाह्य रूप से सुरक्षा प्रदान करता था और न्यायिक, आर्थिक एवं सामाजिक उतरदायित्व भी उसके इन कार्यों में सम्मिलित थे।

संदर्भ ग्रन्थ

1. गौतम धर्मसूत्र (1)

2. गौतम धर्मसूत्र (1)
3. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/25/10 और गौतम धर्मसूत्र 11/5–8
4. वही
5. विष्णुधर्मसूत्र 7/25
6. वशिष्ठ धर्मसूत्र (16/2)
7. वशिष्ठ धर्मसूत्र (19/40–43)
8. वही
9. Ph.D Thesis work, RU (प्रकाशित) कविता षर्मा
10. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/7/16/17
11. वशिष्ठ (16/1) और विष्णुधर्मसूत्र (3/72)
12. गौतम धर्मसूत्र (10–24), विष्णुधर्मसूत्र (3/22–23)
13. गौतम धर्मसूत्र (10/27–29)
14. गौतम धर्मसूत्र (10/28)
15. बौधायन धर्मसूत्र (1/10/1)
16. शंख लिखित धर्मसूत्र (57/12)
17. गौतम धर्मसूत्र (11/3)
18. कविता शर्मा, ''वही''
19. 'वही'

श्रीमती मीनाक्षी शर्मा,
शोध छात्रा, चित्रकला विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

तूँगा के प्राचीन स्मारक एवं वर्तमान स्थिति

जयपुर से लालसोट जाने वाले मार्ग पर बस्सी से आगे अवस्थित तूंगा एक छोटा कस्बा है। जयपुर से इसकी स्थिति लगभग 45 कि.मी. दक्षिण पूर्व में है। पूर्व जयपुर रियासत में यह बांकावत कछवाहों के अधीन था। तूंगा की प्रसिद्ध उस भीषण युद्ध के कारण है जो 28 जुलाई 1787 को जयपुर और मरहठों के बीच लड़ा गया।

महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद हुए उत्तराधिकार युद्ध से राजनीतिक अनिश्चितता तथा अराजकता का जो दौर शुरू हुआ, उसकी चरम परिणति तूंगा के युद्ध में हुई। सवाई माधवसिंह प्रथमके निधन के उपरान्त मरहठों के आक्रमण एवं लूटमार की घटनाएं बहुत बढ़ गई थी। मरहठे अपने को राज्य निर्माता समझने लगे थे और किसी न किसी बहाने राजपूताने के राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहते थे। राजदरबारों में परस्पर विरोधी महत्वाकांक्षी गुटों का पक्ष लेकर हस्तक्षेप करना तथा इसके लिए फौज खर्च, खिराज आदि के रूप में अधिकाधिक धनराशि वसूल करना मरहठों की नीति बन गई थी। जयपुर, जोधपुर और मेवाड़ (उदयपुर) सभी राज्य उनसे परेशान थे। महाराज सवाई पृथ्वीसिंह की असामयिक मृत्यु के बाद 1778 ई. में सवाई प्रतापसिंह जयपुर के शासक हुए। मरहठों ने पृथ्वीसिंह के पुत्र मोहनसिंह को जयपुर की गद्दी का हकदार बताकर तथा सवाई माधवसिंह के समय के फौज खर्च के बकाया वसूल करने आदि कारणों से जयपुर के विरूद्ध चढ़ाई की। मरहठा सेनानायक महादजी सिन्धिया अप्रेल, 1787 ई. में अपनी सेना के साथ दौसा पहुंच गए।[1]

तदुपरान्त 28 जुलाई, 1787 ई. को तूंगा का यह युद्ध शुरू हुआ तथा तीन दिन तक घमासान लड़ाई हुई। भीषण प्रहारों के सामने महादजी सिन्धिया के फ्रांसीसी सेनानायक डिबायन के प्रशिक्षित सैनिक भी नहीं टिक सकें। तूंगा–युद्ध जयपुर के इतिहास में मांवडा–मंढोली के युद्ध के बाद हुई सबसे बड़ी लड़ाई थी। तूंगा के इस युद्ध का समसामयिक वर्णन कवि कृष्णदत्त रचित 'प्रताप–प्रकाश' में मिलता है। इस ग्रन्थ के रचयिता कृष्णदत्त स्वयं तूंगा के रणक्षेत्र में उपस्थित थे। उनके वर्णन की एक

झलक देखने योग्य है –

करिस क्रुद्ध। रचि युद्ध। सजि सुसंग। करि
उमंग। ब्रज अंग। चढि तरंग। लै सु बाग।।
मसिक राग। धकिउ बीर। धरणि धीर। बान हथ्थ।
मनहु पथथ। करत रंग। जुरत जंग। सचिय गैर।

तूंगा युद्ध का नायला के नाथूराम बारहठ ने भी प्रभावपूर्ण वर्णन किया है –

इतै हिन्दनाथ श्री प्रताप
कर बान झालै
उतै नाथ साथ झिलै
आसमान भीरे से।
महाघोर वीर जुद्ध
ऊँची कर नैन लागे
कायर अघारे से।[2]

तूंगा के ऐतिहासिक स्मारक – जयपुर महाराजा ने चौरासी गांव लवाण के राजा को दिये थे। इन्ही में से एक तूंगा भी था। लवाण के वंशज एक बांकावत हिम्मत राजा को चौदह गांव दिए गये थे। उनका ठिकाना तूंगा था। उन्हीं बांकावतों ने यहां स्थापत्य के रूप में कुण्ड का निर्माण करवाया।

विशाल जलकुण्ड : वीर सूरजमल के स्मारक से थोड़ी दूर पर विशाल जलकुण्ड है जो अपने शिल्प–वैभव और सौन्दर्य के कारण दर्शनीय है। अपनी संरचना में यह आम्बेर के पन्ना मियां के कुण्ड से सादृश्य रखता है। पांच मंजिल वाले इस कुण्ड के भीतर जाने के लिए कलात्मक सीढ़ियां बनी है तथा सामने की तरफ विशाल बरामदा है, जिसका उपयोग सम्भवतः स्नान के उपरान्त वस्त्र आदि बदलने के लिए किया जाता रहा होगा। कुण्ड के पार्श्व में बालाजी (हनुमानजी) का एक छोटा सा मन्दिर है। इस कुण्ड के अहाते में प्रवेश करते ही पत्थर की एक सफेद शिला स्थापित है। जिस पर वि.सं. 1768 का एक शिलालेख उत्कीर्ण है। उक्त शिलालेख के अनुसार जो व्यक्ति इस कुण्ड के पानी को गन्दा करेगा या अन्य किसी रूप में कुण्ड की मर्यादा भंग करेगा, वह महापाप का भागी होगा। कुण्ड के पार्श्व में दादू पंथ का भी स्थान है।[3]

सूरजमल शेखावत का स्माकरक – शिलालेख : तूंगा के रणक्षेत्र में एक महत्वपूर्ण एवं भव्य स्मारक बिसाऊ के ठाकुर सूरजमल शेखावत का है, जिन्होंने तूंगा की लड़ाई में बहादुरीसे लड़ते हुए वीरगति पाई।

तूंगा में विद्यमान सूरजमल का भव्य स्मारक आज से लगभग दो सौ दस वर्ष

पूर्व लड़े गए उस भीषण युद्ध के रोमांच का आभास कराता है। आठ खम्भों की यह स्मारक छतरी शिल्प और चित्रांकन की दृष्टि से भव्य और उत्कृष्ट है। इस स्मारक की दीवार पर उत्कीर्ण शिलालेख में सूरजमल के वीरगति पाने के अनन्तर उनके वहां दाह संस्कार होने तथा तत्कालीन जयपुर राज्य की ओर से 25 बीघा भूमि दान दिए जाने तथा विक्रम संवत् 1886 में छतरी के निर्माण एवं उसमें शिवलिंग प्रतिष्ठित करने का उल्लेख है। इसके अलावा सूरजमल के प्रीति पात्र सेवक चतुर्भुज दरोगा के भी युद्ध में मारे जाने तथा उसकी स्मृति में छतरी के पास साल (कमरा) बनवाए जाने का उल्लेख है।[4]

तूंगा के प्रसिद्ध मन्दिर – राजस्थान के मन्दिर विश्वभर में प्रसिद्ध है। यहां के भवन एवं मन्दिर मूर्ति शिल्पकला से पूर्ण समृद्ध है। अनेक मन्दिरों का निर्माण महाराजा मानसिंह के काल में हुआ। महाराजा के संरक्षण में आमेर व आसपास के सभी कस्बों में मन्दिरों का निर्माण हुआ। जिनमें तूंगा कस्बा भी मन्दिरों के लिए समृद्ध है।

चारभुजानाथ मंदिर – यह मन्दिर तूंगा का प्रसिद्ध मन्दिर है। चारभुजानाथ की प्रतिमा में विष्णु भगवान के चिन्ह अंकित है। ढ़ाढी में दिव्य हीरा है। श्यामवर्ण की प्रतिमा है। प्रतिष्ठा के बाद आज तक गर्भगृह में विराजमान है। उनके साथ राधा–कृष्ण भगवान की मूर्ति भी है। सामने गरूड़ जी की मूर्ति विराजमान है। चारभुजानाथ मन्दिर सभी जाति समाज के लोगों की आस्था का केन्द्र है और यहां जात–जडूले, सवामण ी सत्संग कीर्तन आदि होते रहते हैं। मन्दिर का निर्माण उस समय की वास्तुशैली में ही हुआ था। जिसमें गर्भगृह, मण्डल कक्ष, परिक्रमा, भोजनशाला, सभाकक्ष, कुआ आदि है। प्राचीन मन्दिर के नीचे से एक रास्ता है, जिसे त्रिपोलिया कहते है, जो आने–जाने के लिए बना है। बाद में इसमें शिव पंचायत, हनुमान मन्दिर भी बनाया गया है।

इसके अलावा तूंगा में श्री सत्यनारायण मन्दिर, श्री नृसिंह मन्दिर, श्री पद्मनाथ मन्दिर, श्री कल्याण महाराज मन्दिर, श्री सीताराम मन्दिर, श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, श्री बिहारीनाथ मन्दिर, कोट बालाजी मन्दिर, खेड़ापति महादेव मन्दिर, लोकदेवता तेजाजी महाराज मन्दिर, देवनारायण, रामदेव मन्दिर के साथ–साथ अनेक शिवालय है। दौसा रोड पर डूंगरी पर विराजमान पपलाज माता का मन्दिर, भैरवनाथ मन्दिर सहित अनेकों धार्मिक स्थान है।[5]

तूंगा की प्रसिद्ध वस्तुएं – रियासत काल में तूंगा के पास मोरीण्डी की पट्टियां बहुत लोकप्रिय थी। इनका भवन निर्माण में बहुतायत से उपयोग होता था।

लाख की चूड़ियां – तूंगा लाख की चूड़ियों के लिए भी प्रसिद्ध है। यहां की लाख की चूड़ियां पूरे जिले में प्रसिद्ध है। यों तो राजस्थानके प्रायः हर कस्बे और

शहर में लाख की चुड़ियों का काम होता है परन्तु गुणवत्ता, विभिन्न प्रकारों और सुन्दरता के लिए तूंगा की लाख की चुड़ियाँ अधिक प्रसिद्ध है। लाख की चुड़ियाँ बनाने वाले कारीगरों को लखेरा कहा जाता है। अनेक परिवार लाख की चुड़ियों के उद्योग से अपनी आजीविका चलाते है।[6]

तूंगा कस्बे की वर्तमान स्थिति – कोईसा भी काल रहा हो, जहां युद्ध होते है उन स्थानों के निवासियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। आमतौर पर वे स्थान उजड़ जाते है और वहां फिर से बस्ती बसाने में परेशानियों का सामना करना पड़ता है। सन् 1787 के तूंगा युद्ध में भी तूंगा बस्ती उजड़ी होगी। उस समय नागरिकों को कितना नुकसान झेलना पड़ा, इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते, लेकिन तूंगा कस्बे में आज इस नुकसान का कोई साक्ष्य नहीं है। तूंगा आज जयपुर जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा है। जहां हर श्रेणी का नागरिक बसता है। यहां नगर प्रायः सभी सुविधाएं उपलब्ध है। तूंगा के बाजार में हर तरह का सामान मिलता है। जहां आसपास के बहुत से गांवों के लोग सौदा आदि खरीदने आते है। अब तूंगा व्यापारिक केन्द्र है।।[7]

व्यापारिक स्थिति – बाजारों में दिनभर बनी चहल–पहल इस कस्बे को अब जयपुर का सेटेलाईट टाउन बना चुकी है। लम्बी दूरी तक सड़क के दोनों ओर व्यवस्थित दुकानें व्यापारिक आदमी को अलग ही अन्दाज में प्रकट करती है। यहां खाद्य पदार्थ, जनरल स्टोर कपड़ा व्यवसाय, पान मर्चेन्ट, हार्डवेयर, खाद्य बीज, लौहे लक्कड़, लघु उद्योग, मिट्टी के बर्तन, ट्रांसपोर्ट आदि सभी तरह के व्यापारिक संगठन बने हुए है।

कृषि स्थिति – तूंगा क्षेत्र की भूमि कम उपजाऊ है। यहां बलुई मिट्टी है। यहां गेहूं, जौ, बाजरा, मंगफली, सरसों, तारामीरा तथा सब्जियां आदि शताब्दियों से पैदा होती रही है। यहां आमों के बगीचे भी बहुत थे। लेकिन वर्षा की कमी से अब अधिकांश आमों के पेड़ खत्म हो गए है। पानी की कमी के कारण अब जौ, गेहूं और मुंगफली आदि की खेती भी काफी कम हो गई है। लेकिन तूंगा क्षेत्र के लोग अधिकांश शिक्षित है और वक्त के साथ बदलना जानते है। अब यहां के किसानों का रूझान नकदी फसलों की तरफ बढ़ रहा है। तूंगा क्षेत्र के किसान वर्षा की कमी और कम उपजाऊ भूमि के होते हुए भी अपनी अलग पहचान बनाने में लगे है।[8]

इस छोटे से ग्राम का महत्व स्वयं ही एक गौरव गाथा रखता है। राजस्थान में जहां तलवार की धार पर युद्ध कला एक खेल समझी जाती थी। यहां के राजपूत अपनी आन–बान की, मर्यादा पर मर मिटने की कहानी कहते है। फिर ऐसी वीर भूमि का गांव तूंगा क्यों इस परम्परा से दूर रहता ?

ग्राम तूंगा में पौराणिक स्थापत्य कला के मंदिर व बावड़ियां है। वर्तमान में इनकी कोई ना तो देखरेख की जा रही है। उनको नष्ट कर उन पर अनाधिकृत कब्जे हो रहे है। पौराणिक मंदिरों की पौराणिक स्थापत्य कला को मिटाकर कुछ का निर्माण किया जा रहा है। यहाँ पौराणिक स्थापत्य कला एवं संस्कृति लुप्त प्रायः है। पुरातत्व विभाग द्वारा तूंगा ग्राम की स्थापत्य कला की बावड़ियों व मंदिरों को अधि ाग्रहण करना चाहिए तथा उनको राष्ट्रीय स्मारक घोषित कर उनको संग्रहित करना आवश्यक है। जिससे पौराणिक स्थापत्य कला संग्रहित की जा सकें।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 राघवेन्द्र सिंह मनोहर – राजस्थान के प्राचीन नगर और कस्बे, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, संस्करण नवम्बर, 1999, पृष्ठ स. 38
2. डॉ0 राघवेन्द्र सिंह मनोहर – राजस्थान के प्राचीन नगर और कस्बे, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, संस्करण नवम्बर, 1999, पृष्ठ स. 39
3. मोहन लाल गुप्ता – जयपुर जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, प्रकाशन नवभारत प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2004, पृ.स. 99
4. डॉ0 राघवेन्द्र सिंह मनोहर – राजस्थान के प्राचीन नगर और कस्बे, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, संस्करण नवम्बर, 1999, पृष्ठ स. 39
5. सुनील ठाकुरिया – तूंग दर्शन, स्मारिक 2010, ठाकुरिया पब्लिकेशन, पृ.स. 15

डॉ0 शताक्षी चौधरी
प्रवक्ता–कला
राजकीय कन्या इण्टर कालेज,
अम्बैहटा पीर, सहारनपुर (उ0प्र0)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

''लोक एवं जनजातीय कलाओं से आवृत भारतीय संस्कृति''

आदिकाल से ही भारत की कलायें और हस्तशिल्प इसकी सांस्कृतिक और परम्परागत प्रभावशीलता को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनी रही है। भारत के 36 राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों सभी की अपनी विशेष सांस्कृतिक और पारम्परिक पहचान है, जो वहाँ प्रचलित कला के भिन्न–भिन्न रूपों में दिखायी देती है तथा जिसकी अपनी एक विशेष शैली और पद्धति है, जिसे लोक कला के नाम से जाना जाता है और इन लोक कलाओं के अतिरिक्त परम्परागत कला का एक अन्य रूप भी है, जो अलग–अलग जनजातियों और देहात के लोगों में प्रचलित है, जिसे जनजातिय कला के नाम से जाना जाता है। जनजातिय कला सामान्यतः ग्रामीण इलाकों में देखी गयी उस सृजनात्मक ऊर्जा को प्रतिबिम्बित करती है जो जनजातिय लोगों को शिल्पकारिता के लिए प्रेरित करती है। जनजातिय कला कई रूपों में मौजूद है, जैसे कि भित्ति चित्र, कबीला नृत्य, कबीला संगीत आदि–आदि। भारत की ये लोक एवं जनजातिय कलायें बहुत ही पारम्परिक और साधारण होने पर भी इतनी सजीव और प्रभावशाली है कि उनसे ही देश की समृद्ध विरासत का अनुमान स्वतः हो जाता है और ये कलायें ही हमारी आदिम संस्कृति की निरन्तरता का प्रमाण है, जो कि हमारे सांस्कृतिक जीवन को भी पुष्ट बनाती है। यें कलायें सरल, सुस्पष्ट व परम्परागत होती है एवं सभी देशवासियों को एकता के सूत्र में पिरोएं रहती है। कितनी अद्भुत एवं विशेष बात है कि सभी कलाओं का मूल आदिम अवस्था में है और यही आदिम अवस्था हमारी संस्कृति की सोपान है। लोक एवं जनजातिय कला का मूल सृजन है और यही सृजन संस्कृति का पर्याय है। यद्यपि इन कलाओं में बनायी गयी आकृति बेड़ौल और अनुपात रहित होती है, परन्तु इनके पीछे इनका अटूट विश्वास और सच्ची भावना छिपी होती है और यही भावना सांस्कृतिक विकास में सदैव हितकर रही है और रहेगी।

ये कलायें प्राचीन युग की देन है, जिसमें हमारी संस्कृति एवं सभ्यता की पूर्ण झलक छिपी हुई है। इन कलाओं के जन्म और विकास की कहानी अति प्राचीन है।

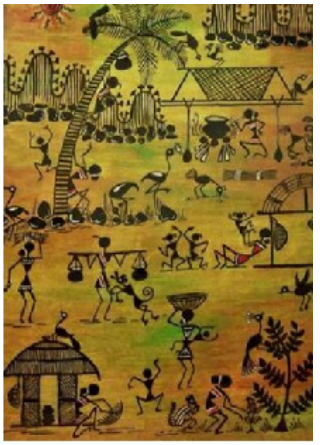

मानव जीवन के अभ्युदय के साथ इनका जन्म हुआ और मानवता के विकास के साथ–साथ ये भी आगे बढ़ी तथा अतीत के सभी युगों पर अपने अस्तित्व की छाप यह विभिन्न रूपों में बनाती रही। वास्तव में इन कलाओं का जन्म भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वरूप हुआ। उल्लासित तूलिका से एक रेखा बनी, आकार उभरा तथा लोक के मन की भावना कलाकृति बन गयी और इन कलाकृतियों की अभिव्यक्ति का आधार उत्साह, ऊर्जा, प्रेम और मंगल भाव होता है। इन कलाकृतियों में मानव का सुख–दुख तथा जीवन की विभिन्न क्रियायें दिखायी देती है। किसी भी देश की कला उसके चिन्तन–दर्शन और साहित्य का सारतत्व होती है। यह एक ऐसी सांस्कृतिक विरासत है जो कल्प बेल की तरह जीवन की निरन्तरता का सन्देश देती है। ये कलायें जीवन की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम भी रही है। इन कलाओं में मानव की सहज संवेदना के दर्शन तो होते ही हैं, दूसरे यह अपनी सहजता, सामाजिकता, आत्मीयता और समूह भावना के साथ मनुष्य को परस्पर जोड़ती भी है। इन लोक एवं जनजातिय कलाओं में ही वह तत्व है जो सर्वग्राह्य है, तभी तो वह सदियों से आज तक भी अपना निजस्व बनाये हुये हैं, जबकि आधुनिक कला प्रतिपग परिवर्तित होती दिखायी देती है। मानव जीवन के क्रमिक विकास के साथ जुड़ी इस आदिम संस्कृति की अक्षय धारा में एक लयात्मकता है। विविध रूप रंगों में रची बसी इन लोक एवं जनजातिय कलाओं में भारतीय संस्कृति के मूल भाव को व्यक्त करने वाले कुछ सार्वभौम तत्व ऐसे हैं, जो विश्व मंगल को दर्शाते हैं। इसीलिए लोक संस्कारों, पर्वों और अनुष्ठानों यथा– होली, दीपावली, जन्म उत्सव, विवाहोत्सव, मृत्यु, अच्छी फसल आदि में जीवन्त हो ये लोक एवं जनजातिय कलायें सदियों से गतिमान है। इसी कारण ये कलायें अपनी गुणवत्ता एवं उत्तमता के लिए आज भी रहस्यमयी है और पाश्चात्य कला से कहीं अधिक पूर्ण परिष्कृत, परम्परा एवं नैतिकता की रक्षक, भारतीय जीवन मूल्यों, आदर्शों और चिरन्तन धारा की सघनता से अनुप्राणित है और आज भी अपने मूल रूप में परम्परागत कला और भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को संरक्षित कर रही है एवं आगे आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित होते हुए अपने गौरवशाली अतीत को व्याख्यायित कर रही है।

भारतीय संस्कृति एवं परम्परा को बचाये रखने के लिए लोक एवं जनजातिय कलायें आज भी सर्वोत्तम साधन है। ये कलायें जीवन का अंग होती है, जीवन

को बाहर से नहीं देखती, बल्कि जीवन से ओत–प्रोत होती है। इस प्रकार यह इतिहास, संस्कृति एवं परम्परा के ज्ञान का महत्वपूर्ण स्त्रोत होती है। ये कलायें माध ुर्य और उल्लास का भी अक्षय स्त्रोत है। अतः जीवन जितना आवश्यक हे, उतनी ही आवश्यक है यह जीवन्त कलायें, क्योंकि इनमें हमारे उल्लास की अनन्त सम्भावनाएं छिपी होती है। भारत में प्रसिद्ध कुछ लोक एवं जनजातिय कलायें है– बिहार की मधुबनी चित्रकारी, ओडिशा राज्य की पट्ट चित्रकारी, मध्य प्रदेश की गोण्ड चित्रकारी, महाराष्ट्र राज्य की वारली चित्रकला आदि। ये कलायें केवल चित्रकारी तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इनके अन्य रूप भी प्रचलित हैं, जैसे– मिट्टी के बर्तन, गृह सज्जा, जेवर, कपड़ा, डिजाइन इत्यादि। इसके अलावा भारत के आंचलिक नृत्य जैसे कि– पंजाब का भांगड़ा, गुजरात का डांडिया, असम का बीहू, आन्ध्र प्रदेश का कुचीपुड़ी, उडीसा का घूमुरा, राजस्थान का घूमर नृत्य आदि भी है, जो कि उन प्रदेशों की सांस्कृतिक विरासत को अभिव्यक्त करते हैं। इन नृत्यों के माध्यम से भी लोग हर मौके जैसे कि – नई ऋतु का स्वागत, बच्चे का जन्म, विवाह, त्यौहारों आदि पर अपना उल्लास व्यक्त करते हैं। इसी कारण ये कलायें हमारी सामाजिक विरासत है, जो परस्पर प्रतिबद्धता की ओर हमें ले जाती है। ये कलायें हमारे मन की गहराईयों में प्रवेश कर हमारी संवेदनाओं को छूकर उन्हें जगाती है और बाहर आने को भी प्रेरित करती हैं। बाहरी रूपों में भिन्न–भिन्न होते हुए भी सभी प्रदेशों की लोक एवं जनजातिय कलाओं का मूल उद्देश्य एक ही है और यह उद्देश्य है– सामाजिक आनन्द, सामाजिक प्रतिभा एवं मानव के रागात्मक पक्षों की एक सहज व स्वाभाविक अभिव्यक्ति। ये कलायें मनुष्य को कृत्रिमता से सहजता, बन्धनमुक्तता और आह्लाद की ओर खींचती है। ये कलायें मन की सहजावस्था में आनन्द की निर्मल धारा है और मनुष्य की अन्तः प्रेरणा का सहज तथा नैसर्गिक रूप है। ये लोक एवं जनजातिय कलायें मुनष्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का ओजस्वी रूप है तथा कोमलता, विविध ाता, एकता एवं सार्वजनिकता के गुणों से सम्पन्न है और हमारी प्राचीन सभ्यता एवं परम्पराओं का दर्पण है। हमारी परम्पराओं एवं संस्कृति को हजारों वर्षों तक जीवित रखने का जो कार्य इन कलाओं ने किया, विज्ञान एवं दर्शन की दृष्टि से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

चूँकि कला को संस्कृति की रीढ़ कहा गया है। अतः भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का मूल रूप स्पष्ट रूप से इन लोक एवं जनजातिय कलाओं में ही दिखायी देता है। ये कलायें सामूहिक लोक कल्याण की मान्यताओं द्वारा उद्भावित होती है एवं मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण संवेदन शील जीवन के उत्थान के लिए मंगलकारी व आनन्दायी भावों से पूरित, धार्मिक, नैतिक मूल्यों व समृद्धि आदि की प्रदाता रही है और इनका मूल मन्त्र है –

ऊँ सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चित दुःखभाग्भवेत।।

अतः स्पष्ट है कि इन कलाओं में हमारी संस्कृति का साक्षात् रूप दर्शनीय है। ध र्म एवं संस्कारों में यह जल में शक्कर की भाँति धुली मिली हुई है, जिन्हें अलग कर पाना असम्भव है। प्रत्येक रीति–रिवाज में छिपे संकेतों का अर्थ मूलतः परस्पर प्रेम सौहार्द और लोक कल्याणकारी होता है, जैसे– प्राचीन काल में पर्यावरण को सुन्दर व सन्तुलित बनाये रखने के उद्देश्य से पूर्वत, वृक्ष, पथवारी, पृथ्वी, जानवर, फसलें, अन्न तथा वन देवता आदि को प्रसन्न रखने के लिए पूजा की जाती थी। वन देवता के रूप में समस्त जंगल की पूजा का प्रचलन अति प्राचीन और आदिम था। इनकी पूजा करने हेतु ही आदिवासी ये लोक चित्र बनाते थे। वन देवता को प्रसन्न करने हेतु ये आदिवासी लोग आज भी सजग एवं जागृत हैं, क्योंकि वन अद्भुत होते है एवं इनकी छाया में हमारे जीवन का बड़ा हिस्सा सुरक्षित गुजरता है। अतः इस छाया को सुरक्षा प्रदान करने में हमारी प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

संस्कृति का मूल लक्ष्य है अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान कराना। भारत की विशाल समृद्ध संस्कृति के कारण ही उसकी विश्व में आज भी विशिष्ट पहचान है। विश्व के अन्य किसी भी देश ने अपनी प्राचीन कला संस्कृति को इतनी दृढ़ता व उत्साहपूर्वक सुरक्षित नहीं रखा, जितना कि भारत ने। यहाँ की बहुरंगी जीवन शैली और सामाजिक विविधता में कला धर्मिता का ऐसा अनूठा संस्कार है, जो उसे एक आत्म सूत्र में बाँधे रखता है। यहाँ विचार और संस्कार जीवन को गतिमान तो बनाते ही है, साथ ही बदलते समय और परिवेश के साथ प्रासंगिक भी रखते हैं। आदिम संस्कृति की इस कलात्मक धरोहर में भारत की अखण्ड़ संस्कृति का विश्वास होता है। यह लोक विरासत परस्पर प्रतिबद्धता, सम्बद्धता और सहकार की ओर नई पीढ़ी को अग्रसर करती है। इन कलाओं का संकलन व संरक्षण करने के लिए आ. जकल भारत सरकार और अन्य संस्थाओं ने कला के इन रूपों को बढ़ावा देने के लिए हर सम्भव प्रयास किये है, जो भारत की सांस्कृतिक पहचान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और इन सतत् प्रयासों के फलस्वरूप ही इन कलाओं की पर्याप्त रूप से प्रगति भी हुई है। सरकार द्वारा किये गये कुछ प्रयास निम्नवत् हैः–

1. टैक्नालॉजी अपग्रेडेशन योजना लागू करना।

2. अम्बेड़कर हस्तशिल्प विकास योजना, गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से संच. ालित करना।
3. इण्टर नेशनल ट्रेड फेयर, क्रॉट बाजार, हैण्डी क्रॉट बाजार, हॉट व मेलों के आयोजन करना।
4. सम्पूर्ण भारत में 8 दिसम्बर से 15 दिसम्बर तक अखिल भारतीय हस्तशिल्प सप्ताह मनाया जाना।
5. हस्तशिल्प पुरस्कार योजनाएं क्रियान्वित करना।
6. 50 की उम्र पार कर चुके शिल्पियों और कलाकारों को 1000 रू0 प्रतिमाह पेंशन देना।

उपर्युक्त प्रयास कला के साथ–साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रचार प्रसार करने हेतु चलाये जा रहे है। उत्तर प्रदेश में भी आगरा का ताज उत्सव, इटावा का सैफई उत्सव और कानपुर में लगाये जाने वाले हस्तशिल्प मेले एवं वर्तमान

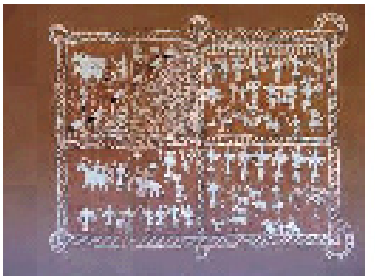
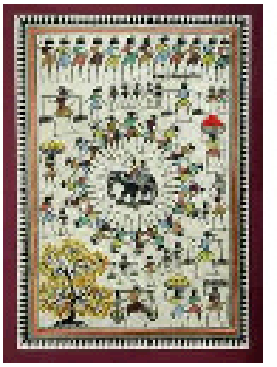

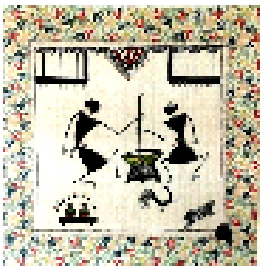
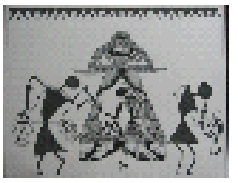

cuokjh yky ehuk
असिस्टेंट प्रोफेसर,
मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी
हैदराबाद

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था : मौलाना आज़ाद के विचारों का प्रतिबिम्ब

स्वतन्त्र भारत के प्रथम शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। स्वतन्त्रता संग्राम में आज़ाद का विशिष्ट योगदान रहा है। शुरूआत से आखिर तक कांग्रेस का साथ देने वाले मुसलमान नेताओं में आज़ाद प्रमुख थे। वस्तुतः ये राष्ट्रवादी मुसलमानों के शिरोमणि और भारतीय स्वंतन्त्रता संग्राम के एक प्रसिद्व सेनानी थे। तात्कालीन समय में भारतीय राजनीति एवं मुसलमानों पर गहरा प्रभाव रखने वाले समकालीन मुस्लिम नेता मोहम्मद अली जिन्ना धर्म आध ाारित राज्य की वकालात करते थे तथा धर्म के आधार पर हिन्दुओं एवं मुसलमानों के लिए अलग–अलग राज्यों (द्वी–राष्ट्र सिद्वान्त) को मानते थे। इसी प्रकार मुस्लिम विद्वान इकबाल और मदूदी जैसे भी यह मानते थे कि मुसलमानों को हिन्दुओ से अलग करने वाली खाई कभी पाटी नही जा सकती। इस प्रकार की विभाजनकारी नीति का आज़ाद ने विशेष रूप से विरोध किया। मौलाना आज़ाद इन दोनों महान सम्प्रदायों की एकता की वकालत करते थे। भारत की आजादी तक आज़ाद ने अखण्ड भारत का समर्थन किया और एकता के लिए संघर्ष करते रहे। धर्म के आध ाार पर राष्ट्र विभाजन ने उन्हे अत्यन्त व्यथित कर दिया तथा मौलाना आज़ाद ने आजादी के बाद शिक्षा के माध्यम से भारतीय समाज में विशेष योगदान देते हुए, प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू और गृहमंत्री सरदार पटेल के साथ मिलकर भारतीय समाज में धर्म निरपेक्षता की नींव डाली जो आगे खूब फली फूली तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का आधार बनी। आज़ाद के शिक्षा सचिव और भारत में प्रसिद्व शिक्षाविद् के.जी. सैय्यादैन ने लिखा है– ''मौलाना प्रथम और अन्तिम रूप से महान शिक्षाविद् थे। उनके जीवन में सफलता का रहस्य उनके शिक्षाविद् होने में था। जिसको उन्होने अपने जीवन में उतारा और जिया। उनके अन्दर विभिन्न प्रकार के गुण थे जो वो अपने देशवासियों में भी देखना चाहते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन सत्य की प्रतिमूर्ति है। सत्य के साथ कोई समझौता नहीं और ना ही कोई

छूट स्वीकार थी। उन्हे कोई नकारात्मक आलोचना स्वीकार न थी चाहे आलोचक कोई भी हो।''

आजाद : एक परिचय

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद उस समय या उस दौर में पैदा (11 नवंबर, 1888, मक्का) हुए जब उपनिवेशवाद अपने चरम या शीर्ष पर था तथा अंग्रजों का सामाज्य दूर–दूर तक फैला हुआ था और इस की बानगी ये थी कि उनके साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नही होता था। उस समय मुस्लिम विचारक और शिक्षाविद् सर सैय्यद अहमद खां अंग्रेजो के वफादार बने हुए थे, और मुसलमानों को भी यही बताते थे कि मुस्लिम समुदाय का विकास अंग्रेजी में ही है। इससे अलग और विपरित मौलाना आज़ाद के विचार थे। इसी वजह से वो अंग्रेजो के कट्टर शत्रु के तौर पर रहे। खिलाफत के दिनों में हिन्दु–मुस्लिम एकता गाँधी एवं मौलाना के प्रयासों से शानदार मैत्री में परिवर्तित हुई। वो अपने साथर्क एवं सद्प्रयासों से मुसलमानों को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की मुख्यधारा में वापस लेकर आए।

एक शिक्षाविद् के रूप में आपके विचार थे कि भारत में सभ्य समाज का निर्माण करने की पुरजोर कोशिश की, जिसके लिए आपने शिक्षामंत्री के रूप में एक लचीली, आधुनिक और सार्वभौमिक शिक्षा व्यवस्था की कल्पना की थी। एक उस समाज की कल्पना जिसमें भारतीयता के अटूट गुण मानवीयता और पश्चिम का गुण तार्किक विज्ञान की विशेषता विद्यमान हो। जहां समाज में शक्तिशाली वर्ग भी हो और गरीब वर्ग सुरक्षित भी हो। जहां युवा वर्ग अनुशासित हो और महिला वर्ग को अपना जीवन सम्मानपूर्वक जीने की आजादी हो। एक अहिंसक और गैर शोषित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था हो, ऐसे सामाजिक वर्ग व्यवस्था की मौलाना आजाद ने हमेशा कल्पना की और भारतीय समाज का निर्माण शिक्षा के माध्यम से करने का ताउम्र प्रयास करते रहे।

आजाद ही वो प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का मुद्दा उठाया जो 1986 में जाकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति के रूप में सामने आया। आजाद ने सभी हेतु समान रूप से गुणवत्ता वाली शिक्षा जो जाति, भौगोलिकता, लिंग भेद और किसी भी असमानता से दूर हो, कि कल्पना की थी। आजाद के शिक्षा दर्शन के अनुसार सभी शैक्षिक कार्यक्रम आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक सद्भाव और संवैध ाानिक मर्यादा में होने चाहिए। आजाद ने सम्पूर्ण भारत में एकसमान शिक्षा ढांचा व्यवस्था का समर्थन किया और उसका रूप 1023 समान रूप से बताया। उन्होनें शिक्षा के अधिकार अधिनियम (संसद में सन् 2005 में पारित) का समर्थन शुरूआत

से किया था। भारत के शैक्षिक विकास के लिए उन्होने इस अधिनियम को बहुत आवश्यक बताया था।

आजाद का शिक्षा और बच्चों को लेकर विचार था कि राष्ट्र की पूंजी बैंको में नहीं है, बल्कि यह प्राथमिक विद्यालयों में होती है। ये कथन उनके महान विचार और दर्शन को भली–भांति स्पष्ट करता है कि उनका शिक्षा दर्शन किस प्रकार उच्च बौद्धिक परिपक्वत्ता लिये हुआ था। तत्कालीन शिक्षा ढांचा को लेकर वो बोलते थे कि यह शिक्षा व्यवस्था, भारतीय शिक्षा का कोई हिस्सा नहीं है बल्कि यह तो मैकाले द्व ारा भारत में अंग्रेजी संस्कृति को थोपने का और उनके लिए बाबू तैयार करने का, जो मानसिक तौर पर उनके गुलाम हो, एक उपकरण है। इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से बदलने की आवश्यकता पर उन्होने जोर दिया।

मौलाना आज़ाद आधुनिक समय के ऐसे सम्मोहक व्यक्ति थे, जिनका मानस सकारात्मक उत्पादकता से ओतप्रोत था। इसे रेखांकित करते हुए सरोजनी नायडू ने कहा था कि – 'वे पैदा हुए तब चालीस साल के थें।'' इससे आज़ाद की बुद्धि का परिचय मिलता है। मौलाना आज़ाद की धनी मानसिकता और प्रभावशाली व्यक्तित्व के पीछे आज़ाद का पारिवारिक परिदृश्य व स्वयं उनके द्वारा जीवन में की गयी कड़ी मेहनत थी।

मौलाना आजाद : भारत के शिक्षामंत्री

वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था उस व्यक्ति के कठिन परिश्रम, प्रयत्न और दृढ़ निष्ठा का परिणाम है, जो न केवल स्वतन्त्र भारत का प्रथम शिक्षा मंत्री बना अपितु जिसने अपने कालखण्ड में ही उस भारत की नींव रख दी, जिससे शिक्षा प्राप्त युवाओं की विदेशों में बेहद माँग है। ऐसे भविष्यदृष्टा को हम मौलाना आज़ाद के नाम से जानते हैं।

1947 में हुए हमारे देश के विभाजन ने हमारी राष्ट्र की शिक्षा और संस्कृति की जडे हिलादी थी और हमारे पास सिर्फ अंग्रेजो की दी गई मानिसक दासता की विरासत बची रह गई थी। जो अंग्रेजों के द्वारा पैदा कि गई शिक्षा व्यवस्था का परिणाम के रूप में थी। आजादी के लगभग सात दशकों के बाद हमने जिस प्रगति के पथ को चूमा है वह निश्चित ही गर्व और गौरव का विषय है। परन्तु यह भी उतना ही सही है कि अभी भी पूर्णता की प्राप्ति नही हो पाई है। मौलाना आज़ाद एक शिक्षाविद् के रूप में उदार, व्यवहारिक और व्यापक विचारों वाले व्यक्ति थे। आज हम शिक्षा व्यवस्था के रूप में व्यापक सुन्दर भवन के दर्शन कर रहे हैं, उसकी सुदृढ़ नींव भी उन्होने ने ही रखी थी। यह निर्विवाद है कि किसी भी सुन्दर

इमारत का निर्माण उसकी नींव पर ही टिका होता है, अगर नींव मजबूत है तो अच्छा वरना इमारत एक दिन भरभराकर गिर जाती है। परन्तु भारतीय शिक्षा रूपी इमारत की नींव सुदृढ और मजबूत है।

स्वतन्त्रता के बाद 1947 से 1952 तक आज़ाद शिक्षा मंत्री रहे तथा 1952 से 1958 तक शिक्षा तथा प्राकृतिक संसाधन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्री रहे। आज़ाद ने इस दौरान भारतीय शिक्षा के विकास के साथ, सांस्कृतिक विकास को भी गति देने का प्रयास किया। मौलाना आज़ाद के अनुसार किसी भी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का मानसिक एवं चारित्रिक विकास करना होना चाहिए। आज़ाद कि दृष्टि में वास्तविक शिक्षा वही है जो किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को विस्तृत, वैज्ञानिक एवं उदार बनाती हो।

आज़ाद चाहते थे कि भारत में शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाये। उन्होनें कहा था कि ''स्वंतन्त्र भारत के विकास की हमारी सभी योजनाएं अन्ततोगत्वा देश के मानव संसाधन के गुणों पर निर्भर करेंगी।'' उनकी दृष्टि में शिक्षा राष्ट्रीय जीवन की आत्मा एवं उनकी आधारभूमि थी। आज़ाद ने शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे सुझावों का हमेशा स्वागत किया और उन्हें लागू करने का पूर्ण प्रयास भी किया परन्तु बजट या अन्य समस्याओं की वजह से वो काफी योजनाओं को मूर्त रूप भी नही दे पाए थे। परन्तु जिन मुख्य योजनाओं को शिक्षा मंत्री के रूप में उन्होंने अमलीजामा पहनाया वो मुख्य रूप से निम्न हैं –

- ☛ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.)
- ☛ राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.)
- ☛ अखिल भारतीय तकनीकि शिक्षा परिषद् (ए.आई.सी.टी.ई)
- ☛ भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् (आई.सी.सी.आर)
- ☛ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी.एस.आई.आर)
- ☛ योजना तथा वास्तुकला विद्यालय, दिल्ली (एस.आर.ए)
- ☛ केन्द्रीय शिक्षा संस्थान (सी.आई.ई.)
- ☛ भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर
- ☛ विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग
- ☛ संगीत एवं नाटक अकादमी
- ☛ माध्यमिक शिक्षा आयोग

- ललित कला अकादमी
- साहित्य अकादमी

उपरोक्त संस्थानों के अलावा भी मौलाना आज़ाद ने अपने समय में शिक्षा और संस्कृति के विकास के लिए भारत में इतिहास और दर्शन का लेखन कार्य करवाया। हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का विकास करवाया। उन्होनें अपने व्यक्तिगत रूचि से कई विषयों को सुझाने की कोशिश की जो आवश्यक थे। जैसे भाषा के प्रश्न पर स्पष्ट तौर पर कहा की भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है और इसके विकास के लिए कार्य किया। उसी समय मे उर्दू के प्रसार के लिए भी कार्य किया परन्तु उनका मानना भी था कि भारत की अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए अंग्रेजी भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इनके साथ आपका विशाल शिक्षा दर्शन ही था कि सम्पूर्ण भारतीय जनता के समेकित विकास के लिए आपने शिक्षा को अन्य पहलुओं से ऊपर रखा। बावजूद इसके कि आर्थिक स्थिति ज्यादा ठीक नही थी फिर भी आपने राष्ट्रीय बजट में शिक्षा के विकास के लिए राशि को धीरे– धीरे बढ़वाया था। आज़ाद चाहते थे कि सम्पूर्ण विकास की चाबी सिर्फ शिक्षा है।

मौलाना आजाद का दर्शन

किसी भी व्यक्ति का दर्शन या उसकी सोच, उसके सृजनात्मक कार्यों में प्र. तिबिम्बित होती है। अर्थात् आप क्या सोचते हैं और क्या करना चाहते हैं, उसी के अनुसार आप अपने सपनों को मूर्तरूप देना चाहते हैं। यही एक दार्शनिक की विशेषता है वह अपने विचारों को मूर्तरूप देने हेतु सदैव कट्बिद्ध प्रतीत होता है। मौलाना आजाद के दर्शन को भी उनकी मूल कृतियों या रचनाओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। मौलाना आजाद ने शिक्षा मंत्री बनने से लेकर अन्त तक जो कार्य शैक्षिक क्षेत्र या शैक्षिक विकास के लिए किये गये, उनसे उनका शिक्षा दर्शन प्रखर रूप से प्रतिपादित होता है। स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व ओर बाद में भी आजाद ने जो लेखन और सृजनात्मक कार्य किया, उससे आपके विचारों की स्पष्टता प्रकट होती है कि आप किन विषयों पर बहुत अधिक गंभीर चिंतन करते थे और कौन से बिन्दु आपको चिंता में सोने नहीं देते थे। मौलाना आजाद की शुरुआती पहचान एक परिपक्व पत्रकार के रूप में दुनिया के सामने आई, तब इनकी उम्र भी अधि ाक नहीं थी। आपके विचारों के विस्तृत दर्शन हमें आपके पत्र 'अल–हिलाल' और 'अल–बलाग' में दृष्टिगत होते हैं।

आपका लेखन और सृजन कार्य देश की एकता को बनाए रखने और अंग्रेजों से देश की आजादी के आस–पास घूमता रहता है। इसके लिए आजाद ने मुस्लिम

समुदाय को अपने धार्मिक विचारों का हवाला देकर एकजूट होने के लिए प्रेरित किया। साथ में हिन्दु–मुस्लिम एकता पर आपका विशेष ध्यान रहा। इसके लिए आप जीवनभर कट्टिबद्ध रहे।

आजाद का दर्शन 'कुरान' और 'हदीस' के गहन अध्ययन का परिणाम है। उनकी कृति 'अल–हिलाल' और 'अल–बलाग' के माध्यम से उन्होंने अपने समन्वयकारी सहिष्णु धार्मिक विचारों को दुनिया के समक्ष रखा। आपका दर्शन ईश्वर की एकता, मनुष्य की एकता तथा अन्य कारकों की तत्वमीमांसा का विस्तृत वर्णन है। आपने अपने एक आलेख ''मनुष्यों का धार्मिक जीवन तथा उनका स्वाभाविक युग'' में सम्पूर्ण विकासात्सक प्रक्रिया पर विमर्श प्रस्तुत किया है। आपने इस आलेख में मनुष्य की मुक्ति में सहायक सद्कर्मो का उल्लेख किया है। सद्चरित्र और धर्म के कार्यो को स्थायी रखने के बारे में आपने कहा है कि मनुष्य को सम्बद्धता का वरदान प्राप्त है जो कि उसका अन्तः करण है, और जिसके माध्यम से मनुष्य सत्य एवं असत्य में भेद कर सकता है। वर्तमान समय में मानव ने अपने अन्तः करण की आवाज़ को अनसुना कर दिया है, जिससे मानवीय मूल्यों का पतन होने लगा है और वे निम्न से निम्नतर स्थिति में पहुंच गये हैं। मानव का उन्नति और अवनति का खेल मात्र चार पीढियों में सीमित है। उन्होंने इसके समर्थन में बोला की इस्लाम का इतिहास स्वंय इसका साक्षी है। इस्लाम का स्वर्ण काल पैगम्बर से शुरू होकर खलिफा, उसके बाद उमेयादों और फिर अब्बसिदों तक रहा है उनके साथ ही अरबवासियों के गौरव का अन्त हो जाता है। आजाद इसके माध्यम से स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस्लाम की अवनति इसलिए अपरिहार्थ हो गई थी क्योंकि यहा की राजनीति में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त से हटकर निजी शासकों के हाथों में आ गया था। इस्लाम का केवल तभी विकास और पुनरूत्थान हो सकता है जब शासन जनता के हाथों में आ जाये। अर्थात भारत की आजादी के लिए आम जनता को प्रेरित करना उनका मुख्य ध्येय था।

'अल–हिलाल' और 'अल–बलाग' के माध्यम से आजाद जनता के सामने इस्लाम के उन अच्छे और बेहतर पक्षों को लाना चाहते थे जिनपर आम जनता की गलत फहमियों के कारण धूल जम चुकी थी। यह एक संयोग ही कहा जा सकता है कि इन पत्रों ने उनके उस गहरे पाण्डित्य को उजागर करने का नेक काम तो किया ही उसके साथ ही उस मकसद को भी पूरा किया जो न केवल सूचनापरक, शिक्षापरक और सुधारात्मक था अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र हित में शान्ति स्थापित करने वाला और राष्ट्रीय एकजुटता को बढ़ाने वाला था। राष्ट्रीय एकता एवं स्वतंत्रता हेतु हिन्दु–मुस्लिम एकता अति आवश्यक थी जबकि तत्कालीन पस्थितियों में अधिकांश मुस्लिम जनता

विदेशी प्रभाव में आ चुकी थी तथा साथ ही कुछ ताकतें मुसलमानों को राष्ट्रीय मुख्यधारा से अलग करने में भी लगी हुयी थी। ऐसे में आजाद ने मुसलमानों को अपने गौरवशाली इतिहास को याद दिलाने का काम किया ताकि समुदाय अपना भला बुरा सोच सके। इसके लिए आवश्यक था मुस्लिम समुदाय में धार्मिक वक्तव्यों और लेखों के माध्यम से राष्ट्र भावना का विकास किया जाये और ये कार्य आजाद ने अपने पत्रों के माध्यम से बाखुबी किया जिससे शीघ्रातिशीघ्र हिन्दू–मुस्लिम एकता स्थापित कर राष्ट्र को विदेशियों से छुटकारा दिलाया जा सके।

मौलाना आजाद को 'इमाम–उल–हिन्द' आपकी कृति 'अल–हिलाल' ने ही बनाया था। आजाद ने इस पत्र के आलेखों में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया कि उसकी तात्कालीन सभी विद्वानों बहुत तारीफ की थी। उनका ध्येय इन सब आलेखों के माध्यम से वास्तविक धार्मिक भावना का मुसलमानों को एहसास करना, उसके बाद सकारात्मक रूप से उस ऊजा शक्ति को राष्ट्र विकास में लगाना था।

मौलाना ने मुसलमानों को अंग्रेजी शासन के प्रति राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सहभागिता हेतु इस्लामी दर्शन एवं कुरान की शिक्षाओं के माध्यम से प्रेरित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि जीव जगत और निर्मित वस्तुए सृष्टिकर्ता से भिन्न है, जो कि इस्लाम की मूल शिक्षाओं में से एक है। सृष्टिकर्ता द्वारा सभी निर्मित वस्तुए मनुष्य के लिए हैं और वह उनके अधीन नहीं है। मनुष्य सभी निर्मित वस्तुओं में सर्वोच्च, सुन्दर और परम है। इस्लाम में खुदा की एकता पर सर्वाधिक बल दिया गया है और मनुष्य सिर्फ उसी के प्रति जवाबदेह और समर्पित है। अतः हम विदेशी शासन के प्रति कैसे व क्योंकर जबावदेह हो सकते हैं। इस्लाम का दर्शन केवल खुदा के प्रति वफादारी और समर्पण की मांग करता है, न कि किसी मध्यस्थ प्रति। एकता के प्रति समर्पण सामान्यतः अंतःकरण के प्रति वफादारी है जहां ईश्वरत्व निवास करता है। इस प्रकार इन सबके माध्यम से आजाद ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की, कि किसी भी प्रकार की गुलामी या दासता स्वीकार नहीं करनी चाहिए और स्वयं को या अहम् को महत्व देना बहुत आवश्यक है।

इस प्रकार मौलाना आजाद का दर्शन पूर्ण रूप से इस्लाम से शुरू होकर राष्ट्र प्रेम के इर्दगिर्द घूमता है। यहाँ मौलाना अपने पत्र के माध्यम से समझते है और स्पष्ट करना चाहते है कि जब खुदा एक है, कुरान एक है, काबा भी एक है तो उनके बीच एकता क्यों नहीं है? क्यों वो किसी ओर की वफादारी करते है अर्थात् अंग्रेजों की गुलामी करते है। देने वाला सीधा ऊपर वाला है तो वो फिर किसी और के सामने झोली क्यों फैलाते है। मुसलमानों को सावधान होना चाहिए और एकजुट होकर राष्ट्र–प्रेम की भावना

रखनी चाहिए।

आजाद ने अपने एक आलेख ''सैन्य प्रशिक्षण और कुरान'' में वर्णन किया है कि इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि शक्तिशाली वर्ग ने हमेशा ही कमजोर या बिखरे हुए समुदाय पर राज किया है, परन्तु यह भी प्रकृति का नियम है कि जब–जब इस शक्तिशाली या राज करने वाले वर्ग ने दूसरे वर्ग पर अत्याचार की सीमा को पार किया है तब–तब प्रतिशोध की अग्नि ने उन्हें भस्म किया है। किसी भी सेना में सैनिको की संख्या महत्वपूर्ण नहीं होती है बल्कि उनके लड़ने का संकल्प और उनकी एकाग्रता महत्वपूर्ण होती है। अर्थात आजाद ने इसके द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज में हिन्दु–मुस्लिम एकता और उनके संकल्प की तरफ ध्यान अकर्षित किया है। इन सब प्रयासों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपर्ण योगदान के कारण आजाद का दर्शन पूर्ण रूप से विशुद्ध राष्ट्रवाद का प्रणेता कहा जा सकता है।

सारतः मौलाना आज़ाद जैसी महान हस्ती सदियों में पैदा हुआ करते है, जो अपना सम्पूर्ण जीवन दूसरों के लिए समर्पित कर देते हैं। वो अपने जीवन में हमेशा भारत की एकता और अखण्डता का समर्थन करने के साथ समृद्व भारतीय संस्कृति को विश्व धरातल पर प्रचारित करते रहे। वो स्वयं आपने आप में एक संस्था थे जिन्होनें भारत में बहुत संस्थान पैदा किये। मौलाना आज़ाद, महान, विद्वान, स्वतन्त्रता के महान पक्षधर थे। वो युगदृष्टा शिक्षाविद् थे जिन्होने भारत में शिक्षा के महत्व को आजादी के तुरन्त बाद पहचान लिया था। इसके लिए उन्होने अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और अंतिम सांस तक देश की सेवा एक शिक्षा प्रेमी व शिक्षाविद् के रूप में करते रहे। इस सम्पूर्ण सेवाभाव का ही परिणाम है कि देश के प्रति समर्पणभाव और देश के निर्माण में उनके योगदान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हुये भारत सरकार ने उन्हे देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से 1992 में (मरणोपरान्त) सम्मानित किया तथा सन् 2008 से भारत सरकार के मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय ने उनके जन्म दिन 11 नवम्बर को प्रतिवर्ष 'राष्ट्रीय शिक्षा

प्रवीण कुमार
एम.ए., इतिहास

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

आभूषण कला एवं महत्त्व

मानव विकास के क्रम में सुन्दर दिखना एवं दिखाना एक व्यापक प्रवृत्ति रही। इसी का एक रूप शरीर के विभिन्न अंगों पर आभूषणों का प्रयोग जो शरीर की सुन्दरता पर चार चाँद लगाने एवं आर्थिक समृद्धि का द्योतक भी माना जाता रहा है।

शुरूआती चरण में आभूषण का प्रयोग मुख्यतः महिलाएं अपने को संवारने में करती रही परन्तु धीरे–धीरे इसके प्रयोग का व्यापक विस्तार होता गया जिसमें छोटे बच्चे, पुरुष एवं देवी–देवताओं के श्रृंगार में प्रयुक्त होने लगा। आदिवासी समुदाय में इनका महत्त्व प्रेम–आत्माओं से निजात पाने एवं दूर भगाने के लिए है इसीलिए आदिवासी देवी–देवताओं की मूर्तियों के आकार वाले ताबीजों एवं लटकनों का प्रयोग भी करते हैं। भिन्न–भिन्न अंगों के भिन्न–भिन्न आभूषण के प्रकार विद्यमान हैं।

विश्व को अपने ओज से आकर्षित करने वाले आभूषण वसुधैव–कुटुम्बकम् वाले देश भारत में लगभग हर धर्म से जुड़ी परम्पराओं का अभिन्न अंग है यहाँ गहने सिर्फ आभूषण नहीं बल्कि रीति–रिवाज, भावनाओं और समृद्ध संस्कृति का द्योतक है। आभूषणों के देश भारत में जेवरात के प्रति आकर्षण अब भी कम नहीं हुआ है अपितु प्रगाढ़ एवं पसंद व तौर तरीकों में बदलाव जरूर हुआ है। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला भारत आज भी सोने का सबसे बड़ी उपभोक्ता है एवं यहाँ का आभूषण उद्योग सबसे तेजी से विकास कर रहे क्षेत्रों में गिना जाता है। कभी सोने–चांदी, हीरे जवाहरात के जखीरे को अपनी शान और ताकत के प्रदर्शन का जरिया मानने की राजा–महाराजाओं की धारणा वाले देश में शादी एवं अन्य रस्मों में आज भी आभूषण को सबसे शानदार तोहफा माना जाता है। भारत में श्रृंगार का अभिन्न अंग और महिलाओं की कमजोरी समझे जाने वाले आभूषणों की चमक कभी फीकी नहीं पड़ी, महिलाएं सदा से आभूषणों से लगाव करती रही है। शास्त्रों में भी नारियों के लिए नाना प्रकार के रत्नाभूषणों आदि की व्यवस्था की

है। पर प्रत्येक आभूषण का अपना एक गुण, विशेषता एवं संदेश का द्योतक है।

आभूषण

1. टीका, 2. कर्णफूल, 3. नथ, 4. कण्ठहार, 5. कड़ा, 6. मंगलसूत्र, 7. कमरबंद, 8. छल्ले, 9. पायल, 10. अंगुठी आदि।

आभूषणों का प्रयोग

– चेहरे को अलंकृत करने हेतु नाक, कान और ललाट के आभूषण।

– हाथों को सजाने के लिए चूड़ी, गजरा, करधा, बैंज, बाजू, चूड़ा का प्रयोग होता है।

– गले के लिए हार या लॉकेट का प्रयोग होता है।

– पैर की अंगुलियों के लिए 'बिछुआ' का प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न स्थानों पर महत्त्व

– आदिवासी एक विशेष प्रकार की बिंदी का प्रयोग करते हैं। चांदी से बनी यह बिंदी पूरी ललाट को ढके रही है।

– सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र में चांदी की बनी हुई हंसली का प्रयोग गर्दन की सुन्दरता के लिए किया जाता है।

– राजस्थान और पंजाब में इनकी अपेक्षा कुछ हल्की हंसली पहली जाती है।

– कुल्लू में नाक में महिलाएं 'नथ' या 'बुलाक' पहनती हैं।

– कुल्लू और किन्नौर में चांदी की बजाय पीपल के पत्ते से बना एक आभूषण 'पीपल पत्र' माथे पर पहना जाता है।

– कश्मीर में कानों को सजाने के लिए 'तारकांता' तथा 'पानकांता' का प्रयोग होता है।

– उड़ीसा और केरल के स्वर्णाभूषण भी काफी विख्यात है।

अंगूठी

अंगूठी एक आभूषण है जिसे ऊंगली में पहना जाता है। अंगूठी पुरुषों और महिलाओं दोनों द्वारा पहने जाते हैं, अंगूठी धातु, प्लास्टिक, लकड़ी, हड्डी, कांच, रत्न और अन्य सामग्री की बनाई जा सकती है।

हिन्दू धर्म में मान्यता

विवाह के सभी प्रतीकों में सबसे ज्यादा सामान्य प्रतीक अंगूठी है। यह विवाह के बाद भी लम्बे समय तक प्रयोग में लाया जाता है। माना जाता है कि कन्या

की अंगुली में अंगूठी पहनने का रिवाज 'गन्धर्व विवाह' से प्रारम्भ हुआ अर्थात् प्रेम विवाह में लड़की की अंगुली में अंगूठी डाल देने का उद्देश्य ये रहा होगा कि समाज ये समझ ले कि इनकी शादी हो चुकी है और फिर से उनका विवाह न कराया जाय। एक समय यह माना जाता था कि विवाह के अवसर पर अंगूठी पहनाने का अर्थ एक पवित्र रिश्ते की शुरूआत करना है और पति अपनी पत्नी को आजीवन प्यार देने और उसकी देखभाल करने के लिए कटिबद्ध है, परन्तु आज इसे सिर्फ दो लोगों के मिलन का प्रतीक माना जाता है। पहले मुख्यतः अनामिका में अंगूठी पहनी जाती थी पर धीरे– धीरे सभी अंगुलियों में पहनना शुरू हो गया। अंगूठी के महत्त्व को पौराणिक उल्लेखों में भी दर्शाया गया जिसमें मुख्यतः रामायण और महाभारत जब सीता को हनुमान मिलने गये थे तब राम ने अंगूठी दी थी ताकि यह दूत राम ने ही भेजा है। इसके वैज्ञानिक पहलू पर ध्यान दिया जाये तो यह बाएं हाथ की अनामिका के नस और तंत्रिका का संबंध ह्रदय को सही काम करने में मदद पहुँचाती है साथ ही यह अथाह प्रेम और विश्वास का प्रतीक एवं मजबूत सबंधों का द्योतक माना जाता है।

कुण्डल

कान में पहना जाने वाला एक आभूषण है जिसे स्त्री तथा पुरुष दोनों ही पहनते हैं। हिन्दू धर्म में कुण्डल धारण करने का प्रचलन प्राचीन समय से ही रहा है। पहले कुण्डल पहनना सभी के लिए अनिवार्य था परन्तु अब पुरुषों में इसका चलन कम है लेकिन स्त्री के अब भी सौन्दर्य सामग्री का अभिन्न हिस्सा है।

प्राचीनकाल में कान को छेछकर जितना लंबा किया जा सके, उतना ही अधिक वह सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता था। यही कारण रहा कि भगवान बुद्ध की मूर्तियों में उनके कान लंबे और छेदे हुए हैं। कान लंबा करने के लिए लकड़ी, हाथी के दांत अथवा धातु के बने लम्बे गोल बेलनाकार आभूषण प्रयोग में आते थे, उसे ही मूलतः कुण्डल कहते थे। इसके दो रूप थे– 1. प्राकार कुण्डल, 2. वप्र कुण्डल।

– बाद के समय विभिन्न प्रकार के कुण्डलों का विकास होता गया।

– प्राचीन मूर्तियों में प्रायः शिव और गणेश के कान में सर्पकुण्डल उमा तथा अन्य देवियों के कान में शंख अथवा पत्र कुण्डल और विष्णु के कान में मकर कुण्डल दिखते हैं।

– नाथपंथ के योगियों के बीच कुण्डल का विशेष महत्त्व है। वे धातु अथवा हिरण की सींग के कुण्डल धारण करते हैं।

मंगलसूत्र

मंगलसूत्र हिन्दू विवाहित स्त्री के सुहाग के प्रतीक के रूप में सबसे चर्चित प्रतीक है। मंगलसूत्र विवाहित स्त्री द्वारा गले में पहनने का आभूषण है जिस तरह ईसाई धर्म में अंगूठी एक अत्यावश्यक प्रतीक है ठीक उस तरह हिन्दू में मंगलसूत्र। जो सदियों से प्रयोग में लाया जाता रहा है। मंगलसूत्र वैवाहिक प्रतीकों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान तो रखता ही है साथ ही ये माना जाता रहा है कि ये दुल्हन के लिए काफी शुभ होता है और उसे बुरी नजर से बचाते हुए विवाहिता को भाग्यशाली बनाता है।

निर्माण – अपने मूल रूप में 'मंगलसूत्र' या 'करथा मणि' काले धागे में गूथे हुए आठ मोतियों से मिलकर बना होता था जिसमें बीच में एक सोने का 'लोकेट' गोल आकार का स्थित होता था। काले रंग की प्राथमिकता का तात्पर्य यह माना जाता है कि कोई बुरी नजर न लगे, परन्तु वर्तमान में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न शैली में लोकप्रिय हो गया है।

नथ

नथ हिन्दू धर्म में महत्त्वपूर्ण प्रतीक के रूप में माना जाता है लेकिन अब यह सभी धर्मों में सामान्य प्रचलन में प्रयुक्त होता है। नथ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसे कन्या को सात फेरे से पहले पहनाया जाता है। मुस्लिम में तो इसे अनिवार्य माना जाता है। नथ को किसी भी धार्मिक उत्सव पर सुहागन द्वारा धारण किया जाता है। इस प्रकार नथ के सम्बन्ध में पौराणिक मान्यता के अलावा कुछ वैज्ञानिक कारण भी हैं। इससे कन्या में खुशबु की क्षमता बढ़ती है। नथ का प्रचलन उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पश्चिम बंगाल, पंजाब, जम्मू और कश्मीर में देखा जाता है। जहाँ इसे कई नामों से जाना जाता है।

नथ के विभिन्न नाम– उत्तर प्रदेश में नथ को चुनी के नाम से जाना जाता है जो सोने की बनी होती है और उसमें मोती भी लगे होते हैं। राजस्थान में नथ कीमती पत्थर की बनी होती है जिसे मोरिया कहते हैं। दूसरा लंग जो क्लोम के आकार का होता है तीसरा लटकन जो मोती का बना होता है जिसे नाम के बीच में पहनती हैं। पंजाब में इसे बुलक्राथ कहते हैं या लटकन मोमी भी कहते हैं जो काफी लंबी और अंडाकार होती है।

पायल

महिलाओं के सोलह श्रृंगारों में एक श्रृंगार पायल है। इसकी अहम भूमिका है। स्त्रियों के श्रृंगार में पायलों का वैदिककाल से ही विशेष स्थान रहा है। घुंघरूओं से सजी छम–छम करती पायलें हमेशा से ही स्त्री के पैरों की शोभा रही है। पायल

पहनना महिलाओं के लिए काफी महत्वपूर्ण माना गया है। पायल पहनने का रिवाज हमारे देश में सदियों से है। आजकल यह रिवाज फैशन की दौड़ में भी आगे निकल गया है। इसीलिए बाजार में पायल के एक से बढ़कर एक डिजाइन मौजूद हैं।

हिन्दू समाज में एक खास मान्यता यह भी है कि पायल सोने की नहीं बनवाई जाती है, क्योंकि हिन्दू संस्कृति में सोने को देवताओं का आभूषण कहा जाता है इसीलिए सोने की पायल को पैरों में पहनना अपशगुन माना जाता है। यही कारण है कि पायल ज्यादातर चांदी की ही बनवाई जाती है और चांदी की यह पायल लड़कियों और महिलाओं के पैरों की शोभ बढ़ाती है।

महिलाओं के सौन्दर्य में पायलें अब एक नये परिवर्तन के साथ फैशन में आ गई है। जहाँ पहले युवतियाँ पायलों को अपनेदोनों पैरों में पहनती थी वहीं अब एक पैर में पहनती हैं। पायल के चलन में कई तरह के परिवर्तन आए हैं। चाँदी के अलावा कई तरह की पायल है जैसे प्लास्टिक और बुडन पायल युवियों के बीच खासी लोकप्रिय है। आजकल घुंघरू वाी पायल का चलन पहले की अपेक्षा कम हो चुका है।

प्राचीनकाल पायल एक संकेत के तौर पर महिलाओं को पहनाई जाती थी ताकि पायल की आवाज से महिलाओं के आने और इसकी स्थिति को प्रदान करता था जिससे आने वाली महिला का स्वागत कर सके, सम्मान दे सके। अतः वे शालीन और सभ्य व्यवहार करे। महिलाओं के सामने कोई अभद्रता ना हो जाए। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए लड़कियों के पायल पहनने की परम्परा लागू की गई साथ ही पायल की आवाज से धर में नकारात्मक शक्तियों का प्रभाव कम हो जाता है और दैवीय शक्तियाँ सक्रिय रहती हैं।

पायल की धातु हमेशा पैरों से रगड़ती रहती है जो स्त्रियों की हड्डियों के लिए काफी फायदेमंद है। इससे उनके पैरों की हड्डी को मजबूती मिलती है। साथ ही पायल पहनने से स्त्रियों का आकर्षण कहीं अधिक बढ़ जाता है।

निष्कर्ष – आदिकाल से ही मानव की प्रवृत्ति रही है कि वह आत्मसन्तुष्टि एवं तुलनात्मक प्रबल, बेहतर दिखने के लिए एवं दूसरों को आकर्षित एवं प्रभावित करने के लिए प्रयासरत रहा है और इसी का एक पक्ष आभूषण है जो मुख्यतः श्रृंगार सामग्री के साथ–साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि का द्योतक रहा है। मुख्यतः आभूषण का अतिप्रयोग उच्च वर्ग में रहा परन्तु समय के साथ इसका व्यापक विस्तार सभी वर्गों तक हुआ। अपने देवी–देवताओं के विभिन्न आभूषण श्रृंगार

का प्रवाह जनमानस में व्यापक तौर पर हुआ जो उसकी सुन्दरता को पराकाष्ठा पर ले जाने में सहायक सिद्ध हुआ, साथ ही आभूषण के प्रयोग की महत्ता इस बात से भी सिद्ध होती है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तंत्रिका तंत्र को सक्रिय एवं प्रबलता प्रदान करती है जैसे अंगुठी, पायल (घर्षण से सक्रिय)।

आज के दौर में आभूषण एक धर्म–विशेष से बंधा न रहकर सभी धर्मों के स्त्रियों एवं पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाया जा रहा है और यह आभूषण धर्म के हिस्से के साथ–साथ फैशन का अभिन्न हिस्सा बन गया है एवं इसकी पहुँच सभी वर्ग तक एवं इसने एक बड़े आर्थिक बाजार को जन्म दिया है। आज भारत का आभूषण कारोबार एवं डिजाइन विश्व मंच पर अपनी कला के लिए विख्यात है।

सन्दर्भ

1. सलीम एम. मजहर : परम्पराओं के प्रतीक हैं आभूषण
2. bharatdiscovery.org

डॉ. प्रीति सिंह
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

''अविद्या और माया : शंकराचार्य के सन्दर्भ में''

शंकराचार्य ने गौड़पाद के मायावाद को अपने भाष्यग्रन्थों में पूर्ण रुप से विकसित एवं पल्लवित किया। उन्होंने माया तथा अविद्या में स्पष्ट रुप से भेद नहीं किया।[1] माया एवं अविद्या के लिए उन्होंने तम, मोह, अव्याकृत, अव्यक्त, अप्रतिबोध आदि पदों का भी प्रयोग किया है[2] तथा इसे अनादि एवं अनिर्वचनीय माना है। सत् और असत् इन दोनों से भिन्न अविद्या के अनिर्वचनीय स्वरुप के प्रतिपादन के लिए ही इसे 'माया' संज्ञा दी गई है। पंचपादिकाकार पद्मपाद ने भी माया और अविद्या इन पदों को समानार्थक माना है। उन्होंने इसके लिए प्रकृति, अव्याकृत, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, निद्रा, अक्षर तथा आकाश शब्दों का भी प्रयोग किया है।[3] सुरेश्वराचार्य ने भी अविद्या तथा माया में कोई अन्तर नहीं माना है। उन्होंने माया तथा अविद्या के अभेद का स्पष्ट रुप से प्रतिपादन किया है।[4] इसी प्रकार विवरण ाकार प्रकाशात्म यति ने भी माया व अविद्या में अभेद माना है। वे कहते हैं कि, 'उस परमेश्वर के ध्यान से विश्वमाया की निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्म से जगत् के आविर्भाव के प्रश्न पर विचार करते हुए विवरणकार ने माया और अविद्या इन शब्दों का प्रयोग पयार्यवाचक शब्दों के रुप में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य एवं उनके शिष्य पद्मपादाचार्य और सुरेश्वराचार्य तथा उत्तरवर्ती प्रकाशात्म यति इन सब ने माया और अविद्या इन शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया है तथा इनमें भेद नहीं माना है। किन्तु शंकरोत्तर वेदान्त में जीव और ईश्वर के भेद के प्रतिपादन के लिए अविद्या और माया में भेद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। विद्यारण्य स्वामी ने जीव और ईश्वर इन दोनों को विशुद्ध चैतन्य रुप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है, किन्तु प्रतिबिम्ब के भेद के लिए उपाधि भेद की आवश्यकता है। उपाधि के भेद के बिना एक ही बिम्ब का दो प्रकार का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है जबकि जीव अल्पज्ञ है। जीव और ईश्वर का यह भेद तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रतिबिम्ब की उपाधि में भेद माना जाये। अतः जीव और ईश्वर रुप विभिन्न प्रतिबिम्बों की सिद्धि के लिए

उनकी उपाधि अविद्या और माया में भी भेद स्वीकार किया गया।

विद्यारण्य स्वामी ने माया में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता मानी है, जबकि अविद्या में सत्त्वगुण को रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत माना है। इस प्रकार माया और अविद्या में भेद करके माया में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ईश्वर; तथा अविद्या में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को जीव माना है।[5] शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिकों–वाचस्पति मिश्र आदि ने भी अविद्या और माया के भेद की व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्र ने अविद्या को ब्रह्माश्रया न मानकर जीवाश्रया माना है।[6] अद्वैत चन्द्रिकाकार आचार्य सुदर्शन अविद्या और माया के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परमेश्वर की शक्ति माया है। वह परमात्म ज्ञान के द्वारा बाधित होने के कारण न सत् है और न क्रियाकारक होने के कारण असत् है। यह माया सत्व, रज और तमोगुण से युक्त है। इस माया के दो भेद हैं– एक विशुद्ध सत्वप्रधाना और दूसरा अविशुद्ध सत्वप्रधाना। विशुद्ध सत्वप्रध ाना माया सत्व गुण प्रधान है और अविशुद्ध सत्वप्रधाना माया तमोगुण प्रधान है। शुद्ध सत्वप्रधाना माया परमेश्वर की दासी है इसके विपरीत अविशुद्ध सत्वप्रधाना माया जीव की स्वामिनी है। जीव अविद्या के द्वारा परतन्त्र है।[7] दूसरे विचारकों ने आवरण और विक्षेप इन शक्तियों के भेद के आधार पर अविद्या और माया में अन्तर किया है। आवरणशक्तिप्रधान मूल प्रकृति को अविद्या, तथा विक्षेपशक्तिप्रधान मूल प्रकृति को माया कहा है। कहीं–कहीं समष्टि और व्यष्टि के आधार पर भी माया और अविद्या में भेद किया गया है। सामाष्टिक अज्ञान को माया तथा वैयष्टिक अज्ञान को अविद्या माना है। शांकर मायावाद के बहुमुखी अध्ययन के दृष्टिकोण से आचार्य परवर्ती दार्शनिकों के माया–अविद्या सम्बन्धी विभाग की प्रक्रिया प्रशंसनीय है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि शंकराचार्य ने माया और अविद्या के भेद का प्रतिपादन स्पष्ट रुप से न करके इन दोनों शब्दों को एक दूसरे का पयार्यवाची माना है।[8] तथापि उनके भाष्यग्रन्थों में अनेक स्थल ऐसे हैं जहां माया और अविद्या के भेद का आभास दृष्टिगत होता है। ब्रह्मसूत्र के रचनानुपपत्त्यधिकरण तथा आरम्भणाधिकरण के भाष्य में शंकराचार्य ने अविद्या को नामरुप माया का कारण बतलाया है।[9] छान्दोग्योपनिशद् भाष्य में उन्होंने ईश्वर को विशुद्धोपाधि से सम्बद्ध माना है।[10] वाक्यवृत्ति में सर्वज्ञत्वादिलक्षण सम्पन्न ईश्वर को मायोपाधिक कहा है।[11] इन संकेतों के आधार पर ही शंकरोत्तर वेदान्त में आवश्यकतानुसार माया और अविद्या के भेद को स्वीकार किया गया है।

शंकराचार्य ने उपनिषद् में विद्यमान माया या अविद्या की विचारधारा का अपने अद्वैत दर्शन में समावेशन किया है। आचार्य रामचन्द्र द. रानाडे महोदय ने उपनिषद् दर्शन पर अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ में माया अविद्या का अर्थ सिद्ध किया है।[12] वे लिखते

हैं–

1. ईश की उक्ति है कि सत्य का मुख स्वर्णिम पात्र अथवा आवरण से ढ़का है। ईश,15
2. कठ की उक्ति है कि अविद्या के अन्दर स्थित व्यक्ति स्वयं को पंडित मानते हैं और अविद्या में ही चक्कर लगा रहे हैं, जैसे अंधों के पीछे अंधे।1.2.4.5
3. मुण्डक में अविद्या को ग्रन्थि कहा है जिसे खोलने पर ही आत्मा का दर्शन हो सकता है। 2.1
4. छान्दोग्य में विद्या को वीर्यवती और अविद्या को निर्बल कहा है।1.1.10
5. बृहदारण्यक में असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलने की प्रार्थना की गई है अर्थात् अविद्या को असत्, अन्धकार और मृत्यु के समान बतलाया गया है।1.3.28
6. प्रश्न की उक्ति है कि जिनमें कुटिलता, अनृत, मिथ्यात्व और माया नहीं है, उन्ही के लिए ब्रह्मलोक है।1.16
7. श्वेताश्वेतर में ईश्वर को 'मायी' कहा गया है जो अपनी माया शक्ति से सृष्टि को उत्पन्न करता है। 4.9.10

इससे सिद्ध है माया या अविद्या के बीज उपनिषद् में निर्विवाद रुप से पाये जाते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शंकराचार्य अविद्या और माया के भेद से परिचित नहीं थे।

इस मत के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैः–

1. शंकराचार्य का आवरण और विक्षेप शक्तियों का भेद विभाजन अविद्या और माया के भेद का सूचक है। शंकराचार्य के अनुसार माया की आवरण शक्ति जीव को आत्म–स्वरुप–ज्ञान से वंचित करती है। इस प्रकार आवारण शक्ति अविद्या का ही रुप है।

2. शंकराचार्य ने माया का जीव के साथ सम्बन्ध दिखाते समय अनेक स्थलों पर अविद्या की चर्चा की है। आचार्य का कथन है कि अविद्या के ही कारण जीव को सर्व–व्यवहार की प्रतीति होती है।[13] इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर आचार्य की यह युक्ति की 'भस्मच्छन्न अग्नि के समान अविद्या से उपस्थापित नाम और रुप से सम्पादित देह आदि उपाधियों के योग से अविवेक रुप भ्रम के कारण जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का तिरोधान होता है, जीव का अविद्या के ही साथ सम्बन्ध प्रकट करती है न कि माया के साथ। इस प्रकार के प्रसंगों के आधार पर अविद्या और

माया का भेद स्पष्ट है।

3. निःसंदेह विवरणकार का यह कथन सत्य है कि भाष्यकार शंकर ने अविद्या, माया और अविद्यात्मिका माया शक्ति आदि शब्दों का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है।[14] यही नहीं शंकराचार्य ने अविद्या और माया को पर्यायवाची भी माना है। इस प्रकार परमात्मा की शक्ति के रुप में अविद्या और माया में भेद नहीं है। परन्तु व्यवहार–दृष्टि से अविद्या और माया का भेद सिद्ध होता है।[15]

l UnHk&l ph

1. अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छेदनात् संवषत्तिरित्युच्यते! – माध्यमिककारिका वृत्ति, पृ. 492।
2. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी वां. 11 पृ. 581, 5।
3. ये यां श्रुतिस्मृतिइतिहासपुराणेशु नाम रुपमव्याकृतविद्या – माया प्रकृतिः अग्रहणम् अव्यक्तम् तमः कारणं लयः शक्तिः महासुप्तिः निद्रा अक्षरम् आकाश इति च तत्र–तत्र बहुदा गीयते! पं. पा. पृ. 18।
4. स्वत्स्त्वविद्याभेदो पि मनागपि न विद्यते! – बृ.उ.भा.वा. 4–3–1244 तथा 4–8499।
5. सत्त्वशुद्धविशुद्धिभ्या मायाविद्ये च ते मते!
   माया बिम्बोवशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः !! – पंचदशी, तत्त्वविवेक, 1–16, 17।
6. नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे सात्वनिर्वचनीयेत्युक्तं, तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म।
   – भामती पृ. 54 (वा॰शास्त्री संपादित) – 1936।
7. अद्वैत चन्द्रिका। पृ. 41 (बनारस 1901)।
8. ब्र.सू.शा.भा. 1–4–3।
9. अविद्याप्रत्युपस्थापित नामरुपमायावेशेन....। – ब्र.सू.शां.भा. 2–2–2 तथा 2–1–14।
10. विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्। – छा.उ.भा. 3–14–2।
11. मायोपाधिजगद् योनिः सर्वज्ञत्त्वादिलक्षणः। – वाक्यवृति।
12. A constructive survey of Upanishadic philosophy II ed. p. 163-165.

Mohan Jangid
Research Scholar
University of Rajasthan,
Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

NUDITY: THROUGH THE EYES OF INDIAN PAINTERS

The study of the nude has been central to the history of Indian art in its journey from prehistoric cave art, the temples of Khajuraho, Vatsayan's Kamasutra to modern portraitures by masters across genres and mediums.

The human body became an experimental muse for members of the Progressive Artists' Group in 1948. Founder-member of the group Francis Newton Souza extolled the human body throughout his career. Souza's "The Blue Nude" is among his earliest known works, which he painted, when he was expelled from the J.J. School of Art in Mumbai. It opened his career as a master of the human form with thousands of nude studies.

Amrita Sher-Gil's early works often reflected the academic style in which she was trained. She found her subject in the female form and began to paint a series of sensuous, highly charged nudes.[1] In one of the galleries of the National Gallery of Modern Art are two paintings "Sleep" (Plate No-1) and "Woman at Bath" by Amrita Sher-Gil, which show her matured approach to painting the human body.

It is only after independence, that F.N. Souza and later Bhupen Khakhar took eroticism as one of the main subject matter in Indian art. While Souza's works were all about crassness in sexual unions, Bhupen Khakhar introduced concepts of homosexuality into art in the Magic Realist style. Another form of eroticism can be seen in the works of Laxma Goud who presented these ideas subtly in his depiction of rural folk.

It has been observed that among the 20th century artists, paintings of nudes and erotic imagery became an important weapon in the battle for modernism. Shocking the onlookers was among the strategies to assert their individuality and freedom. This was very much the case with Souza, who had

already projected his boldness by depicting the nude in stark frontal view. Very early he painted embracing couples based on photographs from the famous Khajuraho temples, establishing that he derived the buxom sensuous female forms, from his observation of Indian erotic sculptures.[2]

India's best known 'art maestro' Maqbool Fida Husain popularly known as MF Hussain is one of India's most charismatic artists who had redefined art to a great extent.[3] In comparison, Husain's figures were "almost classical perhaps because the artist molded his bodies to an Indian tradition". K.H. Ara was not shy of displaying the "full body". His nudes were contemplative and weighty. He attracted a lot of controversy and wrath after painting the nude images of Hindu Deities, especially from the Shiv Sena and Hindus. He was accused of hurting the sentiments of those who belong to Hindu Religion.

In 1954, artist Akbar Padamsee found himself in court defending a painting, "The Lovers". The painting depicted a man with his lover and was declared objectionable owing to the gesture of the male's hand resting on his beloved's breast. Controversy had broken out that the naked couple on Padamsee's canvas represented modern decadent values.[4]

Among the Kolkata artists, Jogen Chowdhury had created a huge body of nude that were corpulent and intimate. The artist says the body has often returned to his paintings as "realistically formed with supernatural eyes from traditional Bengali sculptures". "It is a pity but I feel that we still have not acquired an attitude of ease and responsibility in our man-woman relationship. So we conjure myths - good or bad - about women and their sexuality," artist Bikash Bhattacharjee, known for his nude studies, had said in an interview.[5]

"Gandi Baat"is a series of sketches, created over the last two years, which frames men, women and children in caricatures as they bring up subjects of sexuality, the aggressive ("very Delhi") male gaze, and moral policing, among others. "Gandi Baat" is a direct reference to the abusive language and gestures that pervades the public space, be it the streets, social networking sites or films. "Abusive language has become the new aesthetic. Gandi baat has entered the public domain, but it is no longer taboo. It's become cool,"

says artist Chintan Upadhyay.[6]

Upadhyay's sketches are designed to provoke: a woman holding on to a rail in a bus wipes a tear and says, "You are pervert"; a popcorn has the title Mard Popcorn (because he overheard a man tell his friend, "Mard popcorn jaise hone chahiye (A man should be like a popcorn)". A teenager evaluates her nude self in front of the mirror and thinks, "I am small". A plain paper holds a sketch of a woman and says "I am a drawing; Do I look pornographic?" (Plate no-2)

These are hurried doodles that employ acerbic, unrestrained language, often left incomplete for the viewers to form their own interpretations. They evoke visuals that are designed to either make you uncomfortable or smirk with familiarity. "And why not? I'm a provocative artist. If people don't feel comfortable, that is their problem. But there are some complex issues in the society and I like to bring out those things," says the artist.

While one would think that an artist exploring nudity begins and ends with creating art that contains nudity. This unbelievably unique performer's intrigue stems from his bold and audacious gestures of art, bordering on the eccentric, even. Inder Salim is the perfect example of an artist living and breathing his art, as he uses his own body for social commentary on issues such as support for bisexuality, and gender equality.[7]

Abir Karmakar's nudes rely on the eloquent medium of oil paints to render them alive, flesh-like, breathing or in other words 'realistic'. For Karmakar, the body is a conceptual structure and his artistic queries rely often on its presence and absence as a mode of exploration. In much of his work the stark reality of the nude body and its frank engagement with a perceived viewer establishes a dialectic relationship between the watched and the watcher, highlighting the presence of both. Whether sitting, lying, crouched lasciviously or bending out his hip awkwardly, the subjects gaze is always on us, urging us to look and looking at us looking at him.

In Mithusen's series "Black Candy (iforgotmypenisathome)," She created a parallel narrative of vulnerable masculinities as a way of reclaiming emotions for everybody irrespective of their socio-cultural and sexual identities. She is interested in relationships that aren't purely sexual. With "Black Candy," She

wasn't particularly trying to focus on homosexual relationships, but tried to take an androgynous approach. In addition to examining the physical body, she tries to explore the conceptual body in her practice. (Plate-3)

Her art has usually been seen as erotic, hybrid, and sexual. She explained sexuality is the means by which one can enter the self and the psyche. The so-called sexual overtone in her work is to provoke and trap people, to force them to see and contemplate. She has tried to bring tabooed sexuality out of the closet. Her pieces are highly eroticized. Some viewers have found them even uncomfortably sexual, possibly because she tries to draw sexuality from both living and inanimate objects. She doesn't deny the sexual aspects of her work but she does object to people dealing only with their surface value, overlooking the sensitivity and political acumen invested in her art practice. Most of her works deal with femininity, eroticism, and interiority in that sense. Sexuality is a way to enter the psyche—be it male or female. She did rather like to conceive the body with an androgynous identity, where what is feminine and what is masculine is confined to the realm of ideology.[8]

Although T. Venkanna uses both erotic and sexual imagery extensively in his work, he is not deliberately trying to provoke the viewer. In fact, he transcends what might be perceived as profane reality by using sexuality as a trope to examine his most pressing concerns. These include the alienation and commodity fetishism that characterize modern consumer society.[9] (Plate no-4) In the painting "birth of Black Venus", 2010- a seminal oil on canvas , Venkanna re-presented Italian renaissance painter Sandro Botticelli's Birth of a Venus, c.1486, thereby broadening the category of what it meant to be beautiful, by his appropriation of the color black for the Goddess emerging from the sea. Through this work he suggests that the idea of beauty is a man made category of knowledge; rather than an inherent reality.

Nudity has been celebrated, worshipped and condemned in our country with the passing of centuries and millenniums. The post-independence era has witnessed few stalwarts of the art world bearing the baton of bringing nudity and sexual expressions back in art. They all have been ridiculed, tried and admired for their audacity. For some of the artists the nude and erotic themes meant to provoke the Indian milieu to stop and stare in its

own hypocrisy. For others, painting nude and erotic themes is just a ruse to engage the audience to scratch below the surface of sexuality and look deeper to the androgynous, psyche, self.

It is unfortunate for a civilization that prides itself for owning treasures such as Khajuraho, Ajanta and Kamasutra on one hand, and squirms and cringes at the sight of nudity in modern art works on the other. Artist, from a better part of the century, however, continue to express their artistic freedom by choosing nude, erotic and provocative themes in their paintings and art works, facing criticism and even law suits in their own country, finding praise and cult status only in western sensibilities.

References:

1. The Gargoyle, The Journal of the Malcolm Muggeridge Society,Pay cock press, US, April 2007, P.16
2. Ratan Parimoo, Art of Francis Newton Souza: A Study in Psycho-Analytical Approach, Chisel Crafts Pvt. Ltd, Kolkata, January 2012, P. 23
3. http://webneel.com/mf-husain-paintings-art-controversy-indian-artist
4. Dr. Manisha Patil, Akbar Padamsee: The Shastra of Art, Chisel Crafts Pvt. Ltd, Kolkata, July 2015, P. 34
5. Madhusree Chatterjee, Nude studies: Central to Indian art history, Hindustan Times, New Delhi, Feb 13, 2013 (news paper)
6. Pallavi Pundir, I'm a provocative Artist: Chintan Upadhayay, The Indian Express, New Delhi, October 11, 2015 (news paper)
7. http://homegrown.co.in/meet-9-contemporary-indian-artists-exploring-nudity-through-their-work
8. http://bombmagazine.org/article/1000202/mithu-sen

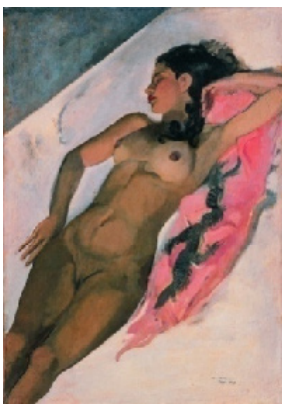

Plate 1, Amrita Sher-Gil, Sleep, Oil on canvas,

Plate no-2, Chintan Upadhayay, Sketches on paper, 2015

Plate No- 3, Mithu Sen, Black Candy (iforgotmypenisathome), 2010

Plate no-4, T. Venkanna, Birth of Black Venus, Oil on canvas, 2010

Dr. Shashi Goel
Post Doctoral Fellow
Department of Political Science
University of Rajasthan,
Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

INTERNATIONAL ORGANIZATION IN THE CONTEXT OF GOOD GOVERNANCE

Introduction

Since the beginning of the 1990s international organizations, particularly those active in the areas of development assistance and finance, have embraced a new creed: 'good governance'. Good governance requirements for borrowing have been introduced to make sure that financial assistance is properly directed. The content of 'good governance', however, differs among the international organizations. Financial institutions have emphasized macro-economic reforms, whereas more political organizations favour a governance approach based on human rights and the rule of law. Nevertheless, a consensus on what good governance implies seems to be taking shape: transparency, accountability and participation are considered to be among its core principles.

The concept of good governance to international organizations themselves and not exclusively to national or regional polities is a more recent phenomenon. The broadening of its field of application is attributable to the fact that the good governance discourse has moved beyond its strictly macro-economic core. Principles of good management, accountability and participatory governance are now thought to apply to international organizations which, under increased pressure from public opinion Especially since the second half of the 1990s, a number of international organizations have carried out major governance reforms, assuming that their calls for governments to heed higher standards of good governance will be all the more credible provided that they develop a good governance standard for themselves. Good governance initiatives by three international organizations whose actions thoroughly affect their Members, citizens and businesses are scrutinized: the World Bank, the International Monetary Fund ('IMF') and the World Trade Organization ('WTO'). Good governance by national

governments has been the magic phrase of the 1990s,[1] the time may well have come for good governance by international organizations.

Some quotations concerning good governance

Nowadays, ahost of international organizations are putting forward requirements of good governance as regards their Members or Member States, to the point that it has become a veritable mantra. A random selection from a number of recent documents of European and international organizations may serve to illustrate this.

- Michel CAMDESSUS, 'Good Governance. The IMF's Role', with attached document 'The Role of the IMF in Governance Issues: Guidance Note', approved by the Executive Board of the IMF on 25 July 1997[2]:

  '[P]romoting good governance in all its aspects, including ensuring the rule of law, improving the efficiency and accountability of the public sector, and tackling corruption… [is] an essential element of a framework within which economies can prosper.'

- Article 8(4) of the Partnership Agreement between the Members of the African, Caribbean and Pacific Group of States, of the one part, and the European Community and its Member States, of the other part, signed in Cotonou, 23 June 2000[3] ('Cotonou Agreement'):

  'The [political] dialogue shall also encompass a regular assessment of the development concerning the respect for human rights, democratic principles, the rule of law and good governance.'

- Kofi ANNAN, UN Secretary-General, 'Africa's "New Spirit of Democratic Empowerment", Continent's Sobering Challenges', an address at the Kennedy School of Government, Harvard University, on 24 April 2002[4]:

  'What is encouraging about recent developments in Africa is that the pressure for good governance is no longer coming from one side or the other, but from peoples and leaders alike. The spirit of democratic empowerment is challenging all leaders to live up to the ideals of independence, and to deliver the freedoms, the rights and the opportunities that their peoples deserve.'

- Statement by G8 Leaders, 'Delivering on the Promise of the Enhanced Heavily Indebted Poor Countries Initiative', Kananaskis, on 27 June 2002[5]:

  'Debt relief alone, no matter how generous, cannot guarantee fiscal solvency, long-term economic growth, and social development. Good governance, prudent new borrowing, and sound debt management by heavily indebted poor countries, as well as responsible financing by creditors, are also essential elements of the policy framework needed to achieve these goals.'

- Agreement between Ministers of the Organization for Economic Co-operation and Development ('OECD') and Ministers from Algeria, Egypt, Nigeria, Senegal, and South Africa on the New Partnership for Africa's Development

  ('NEPAD'), Annual Meeting of the Ministerial Council of the OECD, Paris, on 16 May 2002 [6]:

  'The dialogue between NEPAD and OECD will consider the scope for OECD-NEPAD co-operation building on existing OECD programmes, including among other things: consulting in a spirit of mutual trust and partnership on best development practices, and effectiveness and on development benefits of trade, investment, good governance and approaches to sustainable development.'

- Address by Ambassador Jan KUBIS, Secretary-General of the Organization for Security and Cooperation in Europe ('OSCE'), 'Confronting Common Challenges in Today's Environment', Istanbul, on 12-13 February 2002:

  'The standards for democracy, human rights and fundamental freedoms, rule of law and good governance should be reinforced, not lowered or limited under the pretext of combating terrorism and extremism and under the imperative of gaining allies for that.'

Good governance as a borrowing requirement

The good governance debate was initiated by the Bretton Woods institutions after the Cold War, when imperatives of security policy had to yield to concerns about inefficient or corrupt administrative structures. The World Bank and the IMF retraced what happened in the 1980s and concluded

that their structural adjustment programmes in developing countries had failed because of instutional weakness, especially in Africa.[7] In a 2000 publication the World Bank states: 'Poorly functioning public sector institutions and weak governments are major constraints to growth and equitable development in many developing countries.'[8]

The introduction of good governance requirements as borrowing conditions had to surmount some major legal difficulties. The competences of economic institutions such as the World Bank are delineated in their Articles of Agreement. The purposes of the International Bank for Reconstruction and Development ('IBRD', also 'World Bank'), which is a part of the World Bank Group, are according to Article I of its Articles of Agreement purely economic,[9] whereas good governance is a rather political notion. That is necessary for a positive investment climate and the efficient allocation of resources. The World Bank should not allow itself to be influenced by a particular political ideology, governmental form or party constellation.[10] However, the macro-economic policies of the World Bank itself have always been ideologically biased, the structural adjustment programmes in the 1980s being driven by ideas of free market liberalisation. It is difficult to imagine neutral policies, since policies always require a choice resulting from complicated political trade-offs. Heavily influenced by Anglo-Saxon movements such as New Public Management and Reinventing Government, the essence of the World Bank's ideology has been identified as an attempt at removing government from the economy in order to obtain credit, by pushing a programme of reform that would cut across the whole economy or a whole sector of the economy.[11] Clearly, no economic policy can be separated from the political environment in which it takes shape.

The content of good governance for some international organizations

The World Bank Institute defines governance as the traditions and institutions by which authority in a country is exercized for the common good. Governance would include the process by which those in authority are selected, monitored and replaced, the capacity of the government to effectively manage its resources and implement sound policies, and the respect of citizens and the State for the institutions that govern economic and social interactions among them.[12]Good governance is, logically, appropriate governance. In this section we would like to transcend the vagueness of this

sociological concept and try to bring it into the legal realm by means of the identification of a core set of principles guiding good governance. Obviously, every institution puts its own emphasis on the interpretation of the concept of good governance on the basis of its statutory specialism.

As has previously been stated, the Bretton Woods institutions demand primarily good macro-economic governance or more generally the creation of a framework within which the economy can thrive.[13]For the World Bank, this requirement is composed of both merely macro-economic issues and politically charged topics, such as fighting corruption, socio-economic rights, and even individual political rights if human rights violations are the direct cause of economic effects.[14]The IMF emphasizes that its involvement in governance should be limited to its economic aspects[15]and, in its traditional purview and expertise, it might indeed have a less politically sensitive area of concentration.[16]The European Union used the term good governance for the first time in a Resolution of the Council and of the Member States meeting in the Council on human rights, democracy and development on 28 November 1991.[17]This Resolution stated that 'human rights and democracy form part of a larger set of requirements in order to achieve balanced and sustainable development', and that, '[i]n this context, account should be taken of the issue of good governance.'[18]Ever since, the EU has closely linked good governance with human rights and the rule of law in its development assistance programmes.[19]Good governance requirements came clearly to the fore in the 2000 Cotonou Agreement.[20]In its relations with African, Caribbean and Pacific countries under the Cotonou Agreement, the European Union engages in a political dialogue, which encompasses good governance issues. For the EU, good governance belongs to the same political category as human rights, democratic principles and the rule of law.[21]Transparent and accountable governance is an integral part of sustainable development,[22]but has apparently no specific macro-economic content.

The United Nations Millennium Declaration[23]contains a section on 'human rights, democracy and good governance' without stating exactly what the latter means. In an introductory article the Declaration links it implicitly with the rule of law.[24]But in the ensuing paragraphs the Declaration only mentions respect for human rights, fundamental freedoms and democratic

values.[25]This bears testimony to the entwining of good governance with the issues of an appropriate legal framework, democracy and human rights principles.

The OSCE, which is a pan-European security organization, also takes a special interest in good governance. In the European Security Charter of the OSCE that was adopted during the Istanbul Summit of November 1999, the OSCE Member States promise solemnly 'to promote a positive framework for good government practices and public integrity'.[26]They see good governance basically as an emanation of the rule of law. The OSCE identifies corruption 'as a great threat to the OSCE's shared values' in that it 'generates instability and reaches into many aspects of the security, economic and human dimensions.' It is worth noting that the Charter distinguishes what it calls 'the human dimension' (which encompasses human rights and democratisation) from the rule of law annex the fight against corruption (the chapter in which the concept of good governance is mentioned). However, one should not be misled by these conceptual distinctions. After all, the OSCE reaffirms 'that respect for human rights and fundamental freedoms, democracy and the rule of law is at the core of the OSCE's comprehensive concept of security'.[27]Back in 1991, the OSCE had established an Office for Democratic Institutions and Human Rights ('ODIHR') which is today the lead agency in Europe in the field of election observation and is a highly respected partner in the field of democratisation.[28]It is in any case difficult to imagine that violations of human rights and fundamental freedoms could advance good governance. In spite of the link it makes between good governance and corruption, the OSCE does not focus primarily on corruption but furthers good governance through post-conflict institution-building with a strong emphasis on democratic governance with full respect for political rights.

On the other hand, the OECD has been specifically mobilized to fight corruption. It has established a directorate that focuses exclusively on corruption. For the OECD fighting corruption is of the utmost importance, since 'corruption respects no borders, knows no economic distinctions and infects all forms of government'. In the long run, no country could afford 'the social, political and economic costs that corruption entails.'[29]The organization has addressed corruption through various legal instruments. It addressed

the offering of bribes by disciplining its own companies in their dealings with foreign governments in the 1997 Convention on Combating Bribery of Foreign Public Officials in International Transactions.[30]The Anti-Bribery Convention entered into force in 1999. The OECD dealt with the demand side of the bribe problem through the adoption of the 1998 Recommendation on Improving Ethical Conduct in the Public Service. In December 2000 the OECD issued an Action Statement on Bribery and Officially Supported Export Credits. In 2003, a Recommendation on Guidelines for Managing Conflict of Interest in the Public Service was issued to complement the 1998 Recommendation.[31]Besides, the OECD assists non-member countries in improving their governance and anti-bribery standards through a number of outreach activities in the Anti-Corruption Division and the Public Management Service as well as the work of the OECD Development Centre.

More generally, the OECD has been among the most active organizations encouraging both Member and non-Member countries to implement good governance in all its aspects. Through its 'Public Governance and Management Directorate' it furthers – as well as anti-corruption and corporate governance – good public governance in e-government, regulatory reform, public sector budgeting and management, sustainable development and citizen participation in policy-making against the background of a set of principles. These principles of good governance would, in the words of the OECD, transform not only the relationship between governments, citizens and parliaments, but also the effective functioning of government itself.It is worth listing these principles, since the OECD's expertise and guidelines are generally acknowledged as objective, reliable and useful by Member and non-Member countries alike. They might be regarded as the yardstick for good governance:

- respect for the rule of law;

- openness, transparency and accountability to democratic institutions;

- fairness and equity in dealings with citizens, including mechanisms for consultation and participation;

- efficient, effective services;

- clear, transparent and applicable laws and regulations;

- consistency and coherence in policy formation;
- high standards of ethical behaviour.

A tentative list of good governance requirements

Conducting a survey of 123 countries at the end of the 1990s by CIULLA KAMARCK found striking similarities with regard to public administration reform,[32]which governance programmes of international organizations are likely to have contributed to. CIULLA KAMARCK distinguishes measures such as devolution or decentralisation of central government powers and authorities, privatisation of state-owned companies, downsizing the public sector, civil service reform efforts, emphasis on service delivery, performance-based budgeting, regulatory reform initiatives to oversee newly privatized sectors of the economy, injecting competition into government and making use of information technology. These characteristics form the macro-economic and management core of good governance and point to the origins of good governance as a concept of political economics.

Apart from being grounded exclusively upon considerations of economic efficiency, good governance has gradually been defined more broadly as 'the organization of collective action through institutions defining means, aims and rules'.[33]This conception finds its roots in the failure of economic reform programmes during the 1990s, for which the absence of strong and accountable institutions and an adequate regulatory framework were blamed. This prong of good governance, reinforced by the advent of democracy in large parts of the former communist bloc and the developing world, puts emphasis on incremental institution-building. Even though it calls for a greater regulating role for the state, it also allocates civil and political rights to non-state actors, thereby providing the impetus for civil society institutions steering development.[34]Considering this prong, OKOTH-OGENDO has defined good governance as 'a processual framework within which legitimate politics in society lies'. In his view, it implies 'creative interaction designed at liberating human potential, accountability by the state to civic activism, active state-society and society-society relations, and ultimately, the existence of a constitutional order built on those values.'[35]The second good governance prong, which the UN and the EU are particularly supportive of,[36]aims at establishing a legal order in which societal development can thrive. It accentuates human

rights, the rule of law and the triaspoliticawith the possibility of judicial review, and has, accordingly, brought the good governance discourse into the legal realm.

The granting of rights to citizens has in turn led to a third prong of good governance, so-called corporate governance. It is based on the observation that not only the government but also citizens and large corporations govern, in that their decisions may deeply affect stakeholders and even society at large in a globalized world. As rights confer duties, the private sector is invited to regulate itself. When autoregulation proves insufficient, as recent U.S. corporate scandals such as Enron and WorldCom have illustrated, the government may intervene by imposing and monitoring good governance standards.

Global governance or good governance by international organizations does not necessarily differ from national or local good governance. Governance principles such as transparency, accountability, efficiency and participatory governance, stripped of their strictly macro-economic connotation, reflect universal values and could apply to any polity or organization. Only recently however, have good governance requirements been considered to be relevant for international institutions as well. As their decisions sometimes have far-reaching consequences for countries, individuals and enterprises, proper accountable governance by international organizations is in the interests of all.

In May 1996, the International Law Association ('ILA') established a Committee on the Accountability of International Organizations. At the New Delhi Conference in 2002, the ILA Committee issued its third report in which it discusses extensively the principle of good governance or good administration in international organizations.[37]Its recommendations are largely similar to the aforementioned good governance requirements. The ILA Committee puts forward the following elements of good governance:

1. transparency in both the decision-making process and the implementation of institutional and operational decisions;
2. democracy in the decision-making process or participatory governance;

3. access to information open to all potentially concerned and/or affected by the decisions at stake;
4. well-functioning of the international civil service;
5. sound financial management;
6. reporting and evaluation mechanisms.

The ILA Committee's recommendations will form the point of reference for our assessment of good governance in international organizations, in particular in the World Bank, the IMF and the WTO.

References:

1 T. FUSTER, 'The World Bank's Fear of the Word 'Politics': Walking a Fine Line in the Call for Good Governance' ', NeueZürcherZeitung, 18/19 and 28 September 1999.

2 http://www.imf.org/external/pubs/ft/exrp/govern/govindex.htm

3 O.J. L 317/3, 2000.

4 Press Release SG/SM/8209 AFR/404.

5 http://www.g8.utoronto.ca/g7/summit/2002kananaskis/hipc.html

6 http://www.oecd.org/document/23/0,2340,en_2649_37439_2088727_1_1_1_37439,00.html

7 WORLD BANK, Sub-Saharan Africa: From Crisis to Sustainable Growth. A Long-Term Perspective Study, The World Bank, Washington, 1989.

8 WORLD BANK, Reforming Public Institutions and Strengthening Governments: A World Bank Strategy, The World Bank, Washington, 2000, xi.

9 Article I of the IBRD Articles of Agreements connects the purposes of the IBRD with the means it has at its disposal to pursue its purposes. These means are mainly 'facilitating the investment of capital for productive purposes', 'the encouragement of the development of productive facilities and resources in less developed countries', 'guarantees or participations in loans and other investments made by private investors', 'encouraging international investment for the development of the productive resources of members, thereby assisting in raising productivity, the standard of living and conditions of labor in their territories.'

10 I. SHIHATA, Issues of Governance in Borrowing Members: the Extent of their Relevance under the Bank's Articles of Agreements, Memorandum of the Vice-President and General Counsel, Washington, 1990.

11 W. BELLO, Prospects for Good Global Governance: The View From the South, Report prepared for the Bundestag, Federal Republic of Germany, Focus on the Global South, CUSRI, Chulalongkorn University, Bangkok, 2001, 6, available at http://www.bundestag.de/gremien/welt/gutachten/vg12.pdf

12 http://www.worldbank.org/wbi/governance/overview.htm

13 Since the meeting of the IMF Interim Committee of 29 September 1996 it has been permanent IMF policy that 'promoting good governance in all its aspects, including ensuring the rule of law, improving the efficiency and accountability of the public sector, and tackling corruption … [is] an essential element of a framework within which economies can prosper'. See M. CAMDESSUS, Good Governance. The IMF's Role, with attached The Role of the IMF in Governance Issues: Guidance Note, approved by the IMF Board of Governors on 25 July 1997, www.imf.org/external/pubs/ft/exrp/govern/govindex.htm. See for a critical approach of the IMF's and World Bank's actions as to democracy: C. THOMAS, 'Does the 'Good Governance Policy' of the International Financial Institutions Privilege Markets at the Expense of Democracy?', 14 Connecticut J.I.L., 1999, 551-562; as to the follow-up: J. ZIEGLER, 'Portrait de groupe à la Banquemondiale', Le Monde Diplomatique, October 2002, 32-33.

14 WORLD BANK, Development and Human Rights. The Role of the World Bank, The World Bank, Washington, 1998.

15 IMF Executive Board, Good Governance. The IMF's Role.Guidance Note, Washington, IMF, August 1997, v-vi.

16 Id., at 4: 'The IMF should be concerned with issues such as institutional reforms of the treasury, budget preparation and approval procedures, tax administration, accounting, and audit mechanisms, central bank operations, and the official statistics functions. Similarly, reforms of market mechanisms would focus primarily on the exchange, trade, and price systems, and aspects of the financial system. In the regulatory and legal areas, IMF advice would focus on taxation, banking sector laws and regulations, and the establishment of free and fair market entry. In other areas, however, where the IMF does not have a comparative advantage (e.g., public enterprise reform, civil service reform, property rights, contract enforcement, and procurement practices), the IMF would continue to rely on the expertise of other institutions, especially the World Bank.'

17 http://europa.eu.int/comm/external_relations/human_rights/doc/cr28_11_91_en.htm. In the Declaration on Human Rights adopted at the Luxembourg European Council on 28 and 29 June 1991, the term 'good governance' was not mentioned.

See http://europa.eu.int/comm/external_relations/human_rights/doc/hr_decl_91.htm

18 Resolution of 28 November 1991, para. 2.

19 The general objective of the European Union's Development Policy is to contribute to the development and consolidation of democracy and the rule of law, and the respect of human rights and fundamental freedoms (Article 177, § 2 ECT). The EU's technical, financial and economic assistance should also contribute to the general objective of the consolidation of democracy and the rule of law, as well as human rights (Article 181bis ECT). The Commission has issued since 1995 a series of communications since 1995 on human rights and democratisation to the Council and the Parliament, the latest in 2001, available at http://europa.eu.int/comm/external_relations/human_rights/doc/com01_252_en.pdf

20 O.J. L 317/3, 2000.

21 Article 8 (4) Cotonou Agreement.

22 Article 9 (1) Cotonou Agreement.Compare K. GINTHER, E. DENTERS & P.J.I.M. DE WAART (edS.), Sustainable Development and Good Governance, Dordrecht, MartinusNijhoff, 1995, xxi + 483 p.

23 Adopted by the General Assembly of the United Nations on 8 September 2000.

24 Para. 24 of the Millennium Declaration: 'We will spare no effort to promote democracy and strengthen the rule of law, as well as respect for all internationally recognized human rights and fundamental freedoms, including the right to development.'

25 According to para. 25 of the Millennium Declaration, the General Assembly resolves to fully respect and uphold the Universal Declaration of Human Rights, to strive for the full protection and promotion of human rights, to strengthen the capacity to implement democracy and respect for human rights, to combat discrimination against women, to protect migrant workers, to include all citizens in political processes and to ensure freedom of the media.

26 http://www.osce.org/docs/english/1990-1999/summits/istachart99e.htm, nr. 33.

27 Ibid., no. 19.

28 Annual Report OSCE, 2001, http://www.osce.org/docs/english/misc/anrep01e_activ.htm

29 http://www.oecd.org/EN/home/0,,EN-home-31-nodirectorate-no-no—31,00.html

30 This Convention makes it a crime to offer, promise or give a bribe to a foreign public official in order to obtain or retain international business deals. A related text effectively puts an end to the practice of granting tax deductibility to bribe payments made to foreign officials. The Convention commits the 35 signatory countries to adopt common rules to punish companies and individuals engaging in bribery transactions. So far 28 countries have been subjected to close monitoring to determine the adequacy of their implementing legislation. For each country reviewed, the Working Group on Bribery has adopted a report and an evaluation, which are available on the OECD website.http://www.oecd.org/oecd/pages/home/displaygeneral/0,3380,EN-document-88-3-no-no-7444-88,00.html

31 http://www.oecd.org/document/53/0,2340,en_2649_37447_2516085_1_1_1_37447,00.html

32 E. CIULLA KAMARCK, 'Globalization and Public Administration Reform', in J.S. NYE & J.D. DONAHUE (eds.), Governance in a Globalizing World, Washington, D.C., Brookings Institution Press, 2000, 229-252.

33 E.C. MURPHY, 'Good Governance: ein universal anwendbaresKonzept?', 57 InternationalePolitik, 2002, 8, at 1.

34 MURPHY considers this to be the realisation of Max Weber's legal-rational political culture which is necessary for capitalist development. See E.C. MURPHY, loc. cit., at 6.

35 See H.W.O. OKOTH-OGENDO, 'Governance and sustainable development in

Abdul Salam Khan
Research Scholar
Mewar University

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

"THE HISTORICAL VALUES OF ISLAMIC CALLIGRAPHY IN MODERN ERA-IN-AN ARTISTIC APPROACH"

(a) The effect of modernization in the field of Calligraphy

Calligraphy and Computer:

Calligraphy is traditionally a pen-to-paper craft but even the fluidity of the pen can be replicated on a computer to create calligraphy can prove to be more efficient for calligraphers and graphic designers of all level. Moreover, they keep the possibility to edit and modify it.

The computer facilitates the shape variations per letter to open up new creative possibilities for advertisements, front pages, greeting and business cards. It brings the possibility to create sophisticated Arabic literary and academic books as well as shape prose and poetry. Nasta'liq font is a ligature based typeface. The first step of preparing Nasta'liq typeface is to find unique ligature of Farsi (Persian) language as well as in Urdu and Arabic.

Modern Nast'liq typography began in 1981 by the Monotype Corporation. Although this was a ground-breaking solution employing over 20,000 ligatures (individually designed character combinations) which provided the beautiful results, and allowed newspaper to use digital typesetting instead of an army calligraphers, it suffered from a variety of problem s. with the advent of desktop publishing, different solution have been proposed and implemented.

Presently there are couples of software and founts capable of authentically handling Farsi or Urdu Nasta' liq typesetting work. There are verities of typeface and DTP software which are specially developed for Farsi/Urdu publishing world. They have been used for a wide variety of publishing requirement s ranging from heavy duty page layout for Newspaper, Magazine

s, and book s etc. to some rather simple designs for brochures and greeting cards in Iran, Afghanistan Pakistan, Bangladesh and India without a good relationship between publishers, designers, software programmers, etc.

Enhance the design of the magazines, hoardings, posters, advertisement and newspapers. DTP lets the users to fully express the enormous calligraphic variability in modern typography. Today's generation of high-tech designers with greater freedom and offering them a real Farsi/Urdu-friendly design environment.

1.1. Tasmeem

Tasmeem is a set of Arabic enhancements for Adobe in design Middle Eastern edition developed by an international software company called Winsoft International which was found initially in France. Tasmeem allows users to create typographically advanced text in Arabic in the Middle Eastern and North African versions of in design, turning it into a typesetting and design tool for Arabic. Tasmeem integrates Arabic and Perso Arabic traditional calligraphy with modern typefaces.

Tasmeem 4 proposes a new collection of high-quality fonts such as Naksh, Emiri, HasanHiba. Tasmeem fonts may only be used with Tasmeem. The word shaping presents all the possible calligraphic alternatives for the selected letters of a word. Text Shaping of Tasmeem also deals with the same calligraphic parameters as the Word Shaping, but automates it for large amount of text.

Distribution of shape alternatives, dissimilation of the same letter through a variation, Kashida distribution and frequency can be precisely controlled and applied on a long text, just like a regular paragraph style. The position tuner denature allow dragging and positioning a segment of a word with the mouse in normal, searchable text. It intuitively adjust spacing, kerning and create calligraphic arrangements. Moreover it lets select and color vowels independently. Arabic Spacing also allows adjusting space between words and space between word segments.

1.2. In Page

In Page (commonly known as in Page Urdu) is an industry standard Page making software for Urdu and related languages, since its introduction

in 1994, in Page has been used for a wide variety of publishing requirements ranging from heavy duty page layout for Newspaper, Magazines, and Books etc. to same rather simple designs for brochures and greeting cards. Some of the features that made in Page popular with its users are Calligraphic style handling of Nasta'liq script using, NooriNasta 'liq font, Handling of all MS Windows platforms.

To cater to different economic and user segments, in Page provides two version; in page Basic for the end user and in Page Professional for the advance user. While automatic kerning for Nastaliq script allows you to layout very compact and usually appealing Urdu text, other features like rotation of text and objects indexing and table of contents, four color separation gives you more power while designing and outputting pages published text.

1.3. Chalipa

Chalipais simple calligraphy software designed by an Iranian company called chalipa software. Chalipa version 1.1 was released in back 1997 and Chalipa version 2 was released in year 2005. This programme is well known among the publishers for its accurate fonts. Its friendly user interface and exports for both bitmap and vector files made it special too.

With chalipa you can edit a title, type a piece of text, poem or verse and watch its information into calligraphic font of Nasta' liq. Chalipa's calligrapher is Amir Ahmad Falsafi and provided by Chalipa software team. In this program those who are not very familiar with calligrapher may not worry about their work being wrong as such thing is not possible in Chalipa.

Some of the main features of chalipa could be the ability to export your work various formats like. Bmp, wmf, esp and ai; characters can be enlarged, and multiple works can be done at the same time and there are guide lines available for users to edit their works better.

1.4. Kelk

Kelk is an application used to design Arabic, Persian and Urdu calligraphy. It is developed by a famous Iranian software company called Sinasoft.

Kelk has a typical WYSIWYG interface, similar to most applications. It has a Text toolbox encapsulating the different the different tools that

the functionality provides. Horizontal, vertical, diagonal, circle and bezier guidelines are available. The various tools available to manipulate text include the width, height, "other shape", kashida, join, separate and rotate tool. Kelkalso provides direct export to postscript, pdf, and with Kelk, you can type a piece of text, poem or verse and watch its information into Calligraphic fonts such as Nasta'liq and other calligraphic fonts. Kelk can type setting different sorts of media like magazines, newspapers and books etc. and can be used for special titles and artistic works. Other noticeable features of kelk could be manual Kashidah Insertion.

With the power of Kelk, you can type your favourite piece of text, poem or verse and watch its information into beautiful calligraphic font such as Nasta'liq, Naksh (Osman Taha), Thuluth, Shekasteh, Tahiri, Naskh (Baghdadi), DivaniJali, DivaniKhafi. It is also possible to use normal windows fonts in combination with calligraphic fonts in artworks.

IranNastaliq is an advance font designed by HusseiniZahedi in an Iranian software company called hamoonsoft with the official of support of the supreme council of information and communication technology of Iran. The main advantage of this font is that once it's added to operating system's fonts the user will be able to type Nasta'liq in any dtp software like MS office word, Adobe In design, Adobe Photoshop and CorelDraw etc.

This is because the font completely supports the Unicode standards. Being Unicode means it will act just like most of the famous fonts available like Arial of Times New Roman.

Iran Nasta'liq is 1048kb where as a normal Persian font is approximately 60Kb and it contains 4200 glyphs which again a normal Persian font would contain around 200 glyphs only.

With Iran nastaliq and advance graphics software you can completely adjust the leading between lines and kerning of the characters. Using this one can make a work quite similar to the original hand written calligraphic works.

The khat foundation internationally works in typographic match making: Arabic type with a Dutch flavour. Other important typographic events that contributed to the growing awareness or Arabic type and calligraphy are

typographic. Beirut conference, the khitabat conference, the linotype first Arabic type competition and khatkufi and Kaffiya symposium.

(b) Graphic Design

1.1. Calligraphic and Graphic designing:

The general graphic means any pictutorial substance is called graphic. It is classified into two forms one is called letter graphic another is called picture graphic with line to market demand calligrapher are intended give new dimensions to the art of traditional calligraphy and provide the inputs including colors and brush, light and shade and as an art from free the limitation of alphabetic structure.

Calligraphic continues to be applied today in graphic design, logo design and special handmade presentation is enable this heritage art to converge in the contemporary emerging scenario as well as by this many calligraphers find their "bread and butter"

Traditional calligraphy with cope of graphic design now they can explore their creative wings in the addressing of calligraphic envelops and invitation for wedding, digital type design calligrapher and thousand are now in use, particularly by greeting card Company such as Hallmark and American greetings.

Dr. Rita Pratap (Editor)
Retd. Associate Professor
Department of Drawing & Parinting
University of Rajasthan, Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. B
Sr. 10, 2016
ISSN : 2277-419X

MEDITATION AND YOGIC ART IN INDIAN TRADITION

The word 'Yoga' means the communion of the petty self with higher universal self.

One is all
This is the knowledge.
The yogi sees all things in the self and the self in all things.

This comprehensive vision of union is realized by turning the consciousness inward.

There are four kinds of yoga and they are : Raja-yoga, Jnanayoga, Bhakti-yoga and Karmayoga. All these are the means to attain super-conscious knowledge or God-consciousness. Raja-yoga is said to be the best means, or it is the royal road to God-consciousness. It is divided into eight steps and those are called in sanskrit. Yama, niyama, asana, pranayama, pratyahara, dharana, dhyana, and samadhi.[1]All these different steps are described in the Patanjali-darsana as the means to attain transcendental knowledge or God-consciousness.

The first step Yaina, includes non-killing truthfulness, non-stealing, continence and non-receiving of gifts : ahimsa-satyasteya brahmacharyaparigraha yamah.[2] The second step is niyama comprising of cleanliness, contentment, mortification, study and self surrender to God.[3] The third is asana or sitting posture. Patanjali says : sthira sukhamasanam.[4] There are various kinds of sitting postures (asanas)[5], and they are the means to get control over breath (vital air or prana-vayu). Pratyahara is making the mind introspective.[6] Dharana the sixth step. It means concentration. It is the process of concentrating different modifications of the mind on to a point.[7] The seventh step is dhyana or meditation. The last is samadhi or super-conscious state of the mind which

is known as God-consciousness.[8]

In the yoga system the whole visible universe is based upon a fundamental dualism of the Purush and Prakriti, so also is according to Tantra philosophy which is also termed as Shiva and Shakti or man and woman in Tantra.

Prakriti — the female energy as a primal matter, in its quanta exists as the basis of all objective expression. It co-exists with Purush or pure consciousness : the silent seer of all experience, while Prakriti becomes the perceivable object, purush remains the perceiver; their union is ananda, the state of joy-consciousness.

Now coming to dhyana, it is deep meditation and it comes from concentration or dharana. In this there is no distinction between he who mediates and the object of meditation. This is only possible and can take place when the mind is subjected to the discipline of yoga practices. The yogi-artist can sustain singleness of concentration for a great length of time, withdrawing his mind from all external stimuli, retaining absolute calmness so as to be fully receptive to awareness coming in from the depths of the unconscious. According to yoga, the perceptual power of insight transcends by penetrating and absorbing all forms into a profound and cohesive reality. In this way the yogi-artist begins the journey inward, releasing himself from blind servitude to ordinary sense-perception.

Tantric practise also awakens the kundalini which lies coiled like a snake in the Mooladhar Chakra, when it wakes up it pierces the six chakras. The kundalini passes through sushumna and reaches the Brahma-randhra which is a pure yoga state. The six chakras are mooladhar, Swadhisthan, Manipur, Anahat, Vishuddhi and Agyachakra. Topping above the six chakras is the sahasra chakras located on the upper part of the brain. The practitioner who pierces the six chakras ultimately attains this spot.

To understand this relationship the shilpi yogi or yogi artist has recourse of his own developed experience as his highest criterion — it is a matter of his immediate perception manasa patyaksh. In the yogic theory the artist can and should conserve this energy and convert it into accelerated creativity.

A few examples of paintings based on the meditation and yogic art in Indian tradition are as follows :

Painting No.1 shows a 'YOGI' belonging to 19 century of Bihar school, painted by ink on paper. All yogic teaching leads to the final identification of the macrocosm, the entire outer universe, with the body of the yogi. Through this identification the yogi-artist feels the pulsation of the same life-force (Prana) animating himself as it animates the greatest and the least particles of the universe, through a network of channels flowing out through his organs of sense and knowledge.

Yoga Sutra of Patanjali describes meditation as 'the inhibition of the modification of the mind'. For meditative experience the attention is focused on a specific object, feeling or idea, with complete inhibition of other mental activity. This state of complete concentration and absorption demands a mental effort far greater than the normal state of focusing one's attention.

The process of 'dwelling upon' in deep concentration is developed through systematic stages by a series of mental and physical disciplines. These involve techniques of breathing control, or pranayama; concentration, or dharana; and intense contemplation, or dhyana. The whole process moves from the grosser to the subtler realms of psyche to produce a point of awareness analogous to a state of being that excludes intellectual activities. The ultimate aim of meditation is samadhi — a state of complete spiritual absorption inexplicable in words, accompanied by complete union, supreme joy and unity of being.

The technique of meditation requires a fixation point, and many devices serve to provide the preliminary impetus. Visual meditative aids include primary forms such as the circle and dot (dhyana bindu), or diagrammatic constructions such as yantras. The simplest beginning of all is the focussing of a steady gaze on an ordinary object such as a flame, stone, etc., known as trataka. Chanted sound symbols (mantra), physical movements (mudra), or, very often, a combination of all these aids — visual, verbal, physical — are used to intensify concentration. All help to develop the concentration-prowess, through which the aspirant seeks to find an identity between the external form and the centre of his own consciousness.

Painting No.2 shows 'OM' belonging to Varanasi. It is contemporary expression of an archetypal symbolic form painted in ink on paper. The

first and most important monosyllabic mantra, the seed of vibration from which all originates, is the syllable OM, generally considered to be the sound-symbol of the One. From it, as the centre, the universe of words and things emanates as a spiral text. The concept of the sound OM is, in fact, a combination of what are called the three matras, A, U, and M (for in Sanskrit 0 is a compound letter, a combination of A and U). The letters correspond to the geometrical figures semi-circle, straight line and point. The A, semi-circular, represents the revolving tendency (rajas), red in colour, the condensing form of the universe; the U, straight line, represents the tendency toward concentration (sattva), white in colour, the cosmic intellect; the M, a point, represents the tendency toward disintegration (tamas), black in colour, the casual substratum.

This one syllable is formed of eight subtle sound-elements : A is the first, U is the second, M the third. The nasalization (bindu) is the fourth; its sound (nada) is the fifth; its duration (kala) is the sixth; its vibration in time (kalatita) is the seventh. In addition to these, its timeless resonance is the eighth.

Plate No.3 is the 'SHAT CHAKRA' belonging to 17th century, Uttar Pradesh School. It is painted in Gauache on paper. The shatchakra are the energy-centres of the human body. They represent the ascending stages of consciousness, from Muladhara to Sahashrara, the seat of realization. (A seventh, final stage takes place outside the body.) The yogi arouses the dormant Kundalini (coiled up) force, located at the base of the spine. Using techniques, such as control of breathing, he makes it uncoil like a straightened spring (or a serpent striking). This psychic energy can then be drawn up through the higher centres of consciouness, being refined in the process and sublimated until its perfect unfolding is achieved at a point called the Brahmjandhra at the top of the head. This is the final realization symbolized by the mantra OM, shown at the summit

Painting No.4 'KALI-YANTRA' belongs to 18th century Nepal School. It is made of rock crystal. In Kali-yantra, the encompassing circle represents avidya (ignorance); while the eight-petalled lotus represents the eight-fold prakriti consisting of earth, water, fire, air, aether, manas (Mind), buddhi (intellect) and ahamkara (ego); the five concentric triangles symbolize the five

jnanendriyas or subtle senses, the organs of understanding (jnana = knowledge; indrivas = senses); the five karmendriyas (motor or physical senses) and the five Pranas (vital or life-forces). The bindu, symbol of pure consciousness reflected in maya, is the bija (seed).

Painting No.S shows 'AJNA (CHAKRA' belonging to 18th century of Rajasthan School. It is gouache on paper. Planetary influences and the opening of the third eye in Ajna chakra. The sixth centre, between the eyebrows, represents the inner vision.

Painting No.6 & 7 shows 'CHAKRAS' belonging to 17th century Rajasthan School. It is made of ink and gauache on paper. These are details from a scroll-painting of the mediative centres (chakras).

Painting No.7 shows 'RAMA, RAMA' painted in ink on paper. The repetition of 'Rama, Rama', a mantra. The letters of the Sanskrit alphabet themselves are used for meditation and worship. Their sound-value relates them mystically to the scheme of divine knowledge.

Painting No.9 is of 'YOGI AND HIS DISCIPLES' with ritual objects, belonging to 18th century Kangra School. It is gouache on paper.

Painting No.10 'YOGI'S RETREAT' belongs to Udaipur School of the contemporary period. A typical cell where the Indian yogi learns to detach himself from the objective world. The environment in which the yogi meditates is austere, simple, peaceful, and generally as aesthetic appeal. Usually the trident, Shiva lingam, the OM symbol, or dabs or colour, such as vermillion, reds and saffron symbolic of reality in abstraction, are a part of the retreat.[9]

To conclude one can say that meditation and yogic art in Indian tradition discloses the secret of bringing under control the disturbing modifications of mind and thus helps one to concentrate and mediate upon the transcendental Atman, which is the fountain-head of knowledge, intelligence and bliss.

REFERENCES

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोऽष्टाङ्गनि । ।2 ।29
2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माचर्या परिग्रहा यमाः । ।2 ।30
3. शौच–सन्तोष–तपः–स्वाध्यायेश्यरप्रणिधाणानि नियमाः । ।2 ।31
4. स्थिरसुखमासनम् । ।2 ।43